VISHVA–JYOTI R. N. NO. 1/57 ISSN 0505-7523
REGD. NO. PB-HSP-01
CURRENCY PERIOD: (1.1.2015 TO 31.12.2017)

६४, ७ अक्टूबर –2015

विश्वज्योति

विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान

साधु आश्रम, होश्यारपुर

एक प्रति का मूल्य : १० रुपये

संस्थापक–सम्पादक :
स्व. पद्मभूषण आचार्य (डॉ.) विश्वबन्धु

सम्पादक:
प्रो. इन्द्रदत्त उनियाल
(सञ्चालक)

आदरी सह-सम्पादक :
प्रो. त्रिलोचनसिंह बिन्द्रा

उप–सम्पादक :
डॉ. देवराज शर्मा

परामर्शक–मण्डल :

डॉ. दर्शनसिंह निर्वैर
होश्यारपुर

डॉ. (श्रीमती) कमल आनन्द
चण्डीगढ़

डॉ. जगदीशप्रसाद सेमवाल
होश्यारपुर

डॉ. (सुश्री) रेणू कपिला
पटियाला

शुल्क की दरें

आजीवन (भारत में)	:	१२०० रु.	आजीवन (विदेश में)	:	३०० डालर
वार्षिक (भारत में)	:	१०० रु.	वार्षिक (विदेश में)	:	३० डालर
सामान्य अङ्क (भारत में)	:	१० रु.	सामान्य अङ्क (विदेश में)	:	३ डालर
विशेषाङ्क (एक भाग भारत में)	:	२५ रु.	विशेषाङ्क (एक भाग विदेश में)	:	६ डालर

विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, साधु आश्रम,
होश्यारपुर-146 021 (पंजाब, भारत)

दूरभाष : कार्यालय : 01882-223581, 223582, 223606
सञ्चालक (निवास) : 01882-224750, प्रैस : 231353

E-mail : vvr_institute@yahoo.co.in
Website : www.vvrinstitute.com

विषय-सूची

लेखक	विषय	विधा	पृष्ठांक
डा. सन्तोष चौधरी	अपना हिन्दुस्तान	कविता	2
डॉ॰ सत्यव्रत वर्मा	कृ धातु के कुछ अनूठे प्रयोग	लेख	3
डॉ॰ त्रिलोचन सिंह बिन्द्रा	संसार की यथार्थता	लेख	9
श्री देवनारायण भारद्वाज	भारत को फिर से धनुर्धर बना गये डॉ. कलाम	लेख	11
डॉ. प्रवीणसिंह राणा	महाभारतकालीन समाज का खान-पान	लेख	14
श्री ताराचन्द आहूजा	सद्गुरु महिमा अनन्त है	लेख	17
डॉ. राजकुमार महाजन	महाकवि अश्वघोष के महाकाव्यों की दार्शनिक मीमांसा के अभिव्यञ्जक उपमान	लेख	21
डॉ॰ किशनाराम बिश्नोई	वर्तमान युग में मानव-मूल्यों की प्रासंगिकता	लेख	28
प्रो. सविता सचदेवा	गुरु नानकदेव जी का ईश्वरीय चिन्तन एवं औपनिषदिक पृष्ठभूमि	लेख	33
श्री प्रदीप कुमार पेटवाल	बृहत्त्रयी में नैषधीयचरित का महत्त्व	लेख	36
सुश्री बीनाकुमारी यादव	रस-विवेचन एवं भक्तिरस का दार्शनिक आधार	लेख	39
	संस्थान-समाचार		47
	पुण्य-पृष्ठ		49-52

विश्वज्योति

इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागात् ॥ (ऋ. १,११३,१)

वर्ष ६४ होश्यारपुर, आश्विन २०७२; अक्टूबर २०१५ संख्या ७

हस्ती मृगाणां सुषदाम्
अतिष्ठावान्बभूव हि।
तस्य भगेन वर्चसा
ऽभिषिञ्चामि मामहम्।।

(अथर्व., 3. 22. 6)

(सुषदाम्) अधिक बल वाले (सब) (मृगाणाम्) पशुओं में हाथी का स्थान (अतिष्ठावान्बभूव) सबसे बढ़ा-चढ़ा हुआ है। मैं (तस्य) उसके (बल के समान) (भगेन) प्रताप युक्त वाला (वर्चसा) बल द्वारा (मामहम्) अपने-आप को (अभिषिञ्चामि) अभिषिक्त करता हूँ।

(वेदसार-विश्वबन्धुः)

अपना हिन्दुस्तान

– डॉ. सन्तोष चौधरी

सारे जग से न्यारा मेरा भारतदेश महान्।
प्राणों से है प्यारा मेरा अपना हिन्दुस्तान।।
उत्तर में हिमगिरी की चोटी
बातें करती नीलगगन से
हिन्द महासागर दक्षिण में
नतमस्तक है अन्तर्मन से
ईश्वर खुद करते रहते हैं जिसका नित् गुणगान।
प्राणों से है प्यारा मेरा अपना हिन्दुस्तान।।
पावन गंगा माँ लहराती
जन मन प्राणों को हरषाती
यहाँ प्रकृति की शोभा न्यारी
जो दिल की बगिया महकाती
भिन्न-भिन्न सँस्कृतियों का है उद्गम स्थान।
प्राणों से है प्यारा मेरा अपना हिन्दुस्तान।।
भिन्न हमारी बोली बानी
भिन्न परस्पर भाषा
हम अनेक पर सदा एक हैं
जगे नवोढ़ा आशा
मानव धर्म रहा है जिसका पहले से पहचान।
प्राणों से है प्यारा मेरा अपना हिन्दुस्तान।।
रम्य घाटियाँ झील मनोरम
झरते हैं झरनों से सरगम
बहती वायु सर-सरिताएं
मानों सुना रहीं कविताएं
जो करता है विश्वबंधुता का नितप्रति गीत गान।
प्राणों से है प्यारा मेरा अपना हिन्दुस्तान।।

–''अंकित छाया'' ओम शांति के पास लाखागढ़ (पिथौरा),
जिला- महासमुन्द (छ.ग.) 493551

कृ धातु के कुछ अनूठे प्रयोग

- डॉ० सत्यव्रत वर्मा

कृ धातु संस्कृत धातुपाठ की अति प्रसिद्ध तथा विलक्षण धातु है। धातु पाठ की बहुत-सी धातुएँ एकाधिक/नाना अर्थों की वाचक हैं। पतञ्जलि की उक्ति **'बह्वर्था हि धातवो भवन्ति'** का भी यही तात्पर्य है कि संस्कृत की कुछ धातुएँ ऐसी हैं, जो अनेक अर्थों में प्रयुक्त होती हैं। परन्तु उन धातुओं का यह अर्थ-बाहुल्य उन्हीं अर्थों तक सीमित है, जो धातु पाठ में अंकित हैं। ऐसी धातुओं की संख्या अधिक नहीं है, जो अपने निर्धारित अर्थों से भिन्न अर्थों का बोध कराती हों। किन्तु कृ धातु की बात निराली है। यह वस्तुतः काम-धेनु है, जिस से युग-युगों में अनन्त अर्थों की सन्तति प्रसूत हुई है। वैदिक तथा लौकिक साहित्य में कृ धातु का इतने अनगिनत अर्थों में प्रयोग हुआ है कि उनका लेखा-जोखा रखना भी सम्भव नहीं है। यह संस्कृत की एकमात्र ऐसी धातु है जिस से प्राचीन प्रमाणभूत आचार्यों और कवियों तथा अर्वाचीन सुधी लेखकों ने हर कल्पनीय-अकल्पनीय अर्थ का सवन किया है। यह विचित्र प्रतीत हो सकता है किन्तु अतार्किक नहीं है! इसके मूल अर्थ (क्रिया-सामान्य, डुकृञ् करणे) के गर्भ में विशेष अर्थों की वे समूची भंगिमाएँ समाहित हैं, जो सुदूर अतीत से साहित्य में इस से प्रस्फुटित होती आ रही हैं। 'सामान्य' की परिणति निस्सन्देह 'विशेष' में होती है- **न निर्विशेषं सामान्यम्।** इन विशिष्ट अर्थों का सन्धान अतीव रोचक किन्तु कष्टसाध्य प्रक्रिया है। गत पच्चीस वर्षों के अन्वेषण-अनुसन्धान के फलस्वरूप कृ धातु के जो अनूठे अर्थ प्रकाश में आए हैं, उनका गहन अनुशीलन अन्यत्र किया गया है।[1] परन्तु कृ तो अक्षय खान है। इसके जो नवीन अर्थ हस्तगत हुए हैं, उनका विश्लेषण सर्वथा समीचीन होगा। उससे कृ की विकासमयी

1. देखिये हमारे निबन्ध (i) One some Meanings of Kṛ. Journal of Oriental Research Institute, Baroda, Vol. 43, Pts. 1-2, P.7-13 ; (ii) A Further Note on Some Meanings of Kṛ. Oriental Journal Tirupati, Vol. XLVI, Pts 1-2, P. 29-38 ; (iii) Further observations on the use of Kṛ Journal of the Ganganatha Jha Kendriya Sanskrit VIdyapeetha, Allahabad, Vol. LXIV (1-4), P. 100-110 ; (iv) On The use of Kṛ in the Manusmṛti, Research Bulletin, Vishveshvaranand Vedic Research Institute, Hoshiarpur, Vol. 7, P. 54-64

अर्थयात्रा को अभिनव आयाम मिलेगा।

ऋग्वेद के मन्त्र *'निरु स्वसारम् अस्कृतोषसं देव्यायती। अपेदु हासते तमः'* (१०.१२७.३) की क्रिया (निर्) *अकृत* के अर्थ के विषय में मतैक्य नहीं है। सायण ने इसका अर्थ **'प्रकाशेन संस्करोति निवर्तयतीत्यर्थः'** किया है। रात्रि जाते समय उषा को प्रकाश से उज्ज्वल बनाती है। उषा को प्रकाश प्रदान करना रात्रि का काम नहीं है। सायण की व्याख्या प्रसंग के अनुकूल नहीं है। वस्तुतः कृ धातु यहाँ सर्वथा अज्ञात अर्थ (प्रतिष्ठित करना) में प्रयुक्त हुई है। जब रात्रि का अन्त होने लगता है, वह अपने स्थान पर अपनी बहन उषा को प्रतिष्ठित कर देती है। ग्रिफिथ ने अकृत का यहाँ यही अर्थ किया है - hath set in her place.

'उप ते गाइवाकरं वृषीष्व दुहितर्दिवः' (ऋ० १०.१२७.८) में भी कृ एक अनूठे अर्थ की वाचक है। मन्त्र में इसका 'भेंट करना' अर्थ में प्रयोग किया गया है। 'मैं तुम्हारे पास आकर तुम्हें गौओं की भाँति यह स्तोत्र भेंट करता हूँ' हे सूर्य की पुत्री (उषा), उसे स्वीकार कर'!

मत्स्यपुराण के सावित्र्युपाख्यान में कृ के कई रोचक प्रयोग मिलते हैं, जिनसे उसके सर्वथा नवीन अर्थ प्रस्फुटित होते हैं। सावित्री की सत्यवान् के प्रति यह उक्ति **'दूरं कान्त न कर्त्तव्यो (यं) बिभेमि गहने वने'** (२०९-३४) अटपटी-सी प्रतीत होती है। **'दूरं..........न कर्त्तव्यं'** का क्या तात्पर्य है? 'कर्त्तव्यं' क्रिया में कृ धातु ऐसे अर्थ में प्रयुक्त हुई है, जो अन्यत्र विरल ही मिलेगा। यहां कृ का अर्थ 'जाना' है। **दूरं न कर्त्तव्यं = दूरं न गन्तव्यम्।** 'तुम दूर न चले जाना, मुझे इस बीहड बन में डर लग रहा है'। उसी प्रकरण में सत्यवान् का यह कर्म कुतूहल पैदा करता है : **ततः स काष्ठानि चकार तस्मिन् वने तदा राजसुतासमक्षम् (२०९-३५)!** सत्यवान् ने लकड़ियों का क्या किया, यह पद्य की शब्दावली से स्पष्ट नहीं है। किन्तु प्रसंग से यह निर्भ्रान्त स्पष्ट है कि *'चकार'* क्रिया पद में प्रयुक्त कृ धातु का यहां केवल एक अर्थ हो सकता है, और वह है 'संचय करना'। सवित्री द्वारा दूर जाने से मना करने पर सत्यवान् ने उसकी आँखों के सामने ही लकड़ियों का संग्रह- संचय किया। रोचक संयोग है, 'मधुकर' शब्द में भी कृ इसी अर्थ को कहती है - **मधु करोति संचिनोतीति मधुकरः।** भौंरे को इसलिये मधुकर कहते हैं क्योंकि वह भिन्न-भिन्न फलों से शहद का संचय/संग्रह करता है। उसी प्रसंग के सत्यवान् के इस कथन-**त्वदुत्संगे शिरः कृत्वा स्वप्तुमिच्छामि साम्प्रतम् (२१०.३)** - में *कृत्वा* में कृ धातु 'रखना' अर्थ में प्रयुक्त की गयी है। 'अब मैं तुम्हारी गोद पर सिर रख कर सोना चाहता हूँ।'

साहित्यिक प्रयोगों से स्पष्ट है कि कृ धातु का एक अर्थ 'पालन करना' भी था। महाभारत, पुराण आदि प्राचीन ग्रन्थों में कृ का इस अर्थ में अनेकत्र प्रयोग मिलता है। नरसिंहपुराण के इस पद्यांश में यह अर्थ सुरक्षित है – **तमेवाहं सदा कुर्यां नान्यमस्मि महामते (१३.३७)।** 'मैं सदा पतिसेवा के उसी धर्म का पालन करती हूँ, किसी दूसरे धर्म का नहीं।' भीष्म पितामह की इस वेदनापूर्ण उक्ति में भी महाभारतकार ने कृ का इस अर्थ में प्रयोग किया है – **न च मे तद् वचो मूढः कृतवान् स मन्दधीः** (महा० अनुशासन पर्व, १६७/४२)।'दुर्बुद्धि दुर्योधन ने मेरे उस आदेश का पालन नहीं किया'। मेरी बात नहीं मानी'।'नरसिंहपुराण में कृ का एक ऐसा अर्थ मिलता है, जो साहित्य में अन्यत्र शायद ही मिले। प्रस्तुत पद्यार्थ में – **रमयति कुरुते न मोक्ष मार्गं, दहयति चन्दनमाशु भस्महेतोः** (९.७) – *कुरुते* का अर्थ *अनुसरति* है। स्पष्टतः कृ का अर्थ 'अनुसरण करना' भी था। 'जो विषयों में रमता है और मोक्षमार्ग का अनुसरण नहीं करता, उसका यह काम भस्म पाने के लिये चन्दन जलाने के समान है'।

'धारण करना' कृ धातु का ऐसा अर्थ है, जिस में इसका प्रचुर प्रयोग साहित्य में हुआ है। जातकमाला के प्रस्तुत पद्य में **मम तावदिदं दुःखं धीरतां कर्तुमिच्छतः। का त्ववस्था मम तयोः सुतयोः सुखवृद्धयोः।।** (पृ० १०६) – में कर्तुं धर्तुं का पर्याय है। 'मैं धीरज धारण करने का प्रयत्न करता हूँ फिर भी मेरे पुत्रों का क्या हाल होगा, यह सोच कर मुझे दुःख हो रहा है'! *यो नोद्धतं कुरुते जातु वेषम्* (महा०, उद्योग पर्व, ३३.१११) में भी कृ इसी अर्थ में प्रयुक्त हुई है। 'जो कभी भड़कीले वस्त्र धारण नहीं करता/नहीं पहनता'। यद्यपि उपर्युक्त दोनों उद्धरणों में कृ एक ही अर्थ की वाचक है, किन्तु उनकी भंगिमाएँ भिन्न हैं। पहले उद्धरण में 'धारण करना' मानसिक प्रक्रिया है जब कि दूसरे में वह भौतिक क्रिया है।

मधुकर की भाँति स्वर्णकार, मणिकार और कारा शब्दों में भी कृ धातु के मार्मिक अर्थ छिपे हुए हैं। स्वर्णकार शब्द में कृ का अर्थ 'बनाना, गढ़ना, निर्माण करना' है। **स्वर्ण स्वर्णाभूषणं करोति निर्मातीति स्वर्णकारः।** मणिकार में कृ 'गूंथना' अर्थ की वाचक है। ***मणीन् करोति ग्रथ्नाति इति मणिकारः।*** मूलतः मणियाँ गूंथने वाले–उनकी माला बनाने वाले–को मणिकार कहते थे। मनियार मणिकार का ही अपभ्रंश है। कृ के एक अत्यन्त दुर्लभ तथा विलक्षण अर्थ को सुरक्षित रखने का श्रेय 'कारा' शब्द को है! 'कारा' में कृ धातु का अर्थ है 'बांधना, कैद करना'। **क्रियन्ते बध्यन्ते निगृह्यन्तेऽपराद्धा यत्र सा कारा।** जहाँ अपराधियों को कैद करके रखा जाता है, वह 'कारा' है।

कृ धातु विविध भंगिमाओं सहित 'ग्रहण

करना' अर्थ की द्योतक थी, यह उसके साहित्यगत प्रमाणों से स्पष्ट है। '**शूरश्च कृतविद्यश्च सारथिः परिकीर्तितः** (मत्स्यपुराण, २१५.२१) में क्तान्त कृत में ग्रहण क्रिया की एक भंगिमा स्फुटित है। *कृतविद्यः* का सीधा अर्थ '**गृहीतविद्यः शिक्षितः**' है। वही सारथि कुशल सारथि है, जो वीर भी और हो विद्वान्/सुशिक्षित भी। कालिदास के प्रयोग **दारक्रियायोग्यदशं च पुत्रम्** (रघु., ५.४०) में ग्रहण क्रिया की दूसरी भंगिमा प्रकट हुई है। मल्लिनाथ ने '**दारक्रियायोग्यदशं**' का '**विवाहयोग्यवयसं**' किया है, जो भावार्थ की दृष्टि से तो सर्वथा निर्दोष है, किन्तु इससे 'क्रिया' पद का मर्म/तात्पर्य प्रकट नहीं हुआ है। '**दारग्रहणयोग्यवयसं**' कहने से 'क्रिया' का अर्थ स्वतः खुल जाता है।

अर्वाचीन साहित्य में भी कृ के कुछ महत्वपूर्ण प्रयोग दृष्टिगोचर होते हैं। '**तेन एतस्या गौरवमेव महीकृतं भविष्यति**' (संस्कृतरवीन्द्रम्, पृ. २७७) में '**महीकृतं**' विशिष्ट अर्थ का बोधक है। प्रसंग से स्पष्ट है कि कृ यहाँ पत् धातु के पर्याय के रूप में प्रयुक्त की गई है। **महीकृतं महीपतितम्**। उस से इसका गौरव ही धरती पर गिर जाएगा-धूलिसात् हो जाएगा'। Her glory will there by fall flat on the ground.

अर्थशास्त्र, रामायण, मनुस्मृति आदि के समान महाभारत भी कृ के विभिन्न अर्थों का विशाल कोष है। महाभारत में इस सार्वभौम धातु के ऐसे चमत्कारी अर्थों में प्रयोग मिलते हैं, जिनकी कल्पना करना भी असम्भव-सा प्रतीत होता है। धृतराष्ट्र के प्रति कणिक के कूटनीतिक उपदेश के अन्तर्गत, '**तालवत् कुरुते मूलं बालः शत्रुरुपेक्षितः**' (**महा० आदिपर्व, १३९.८६**) में प्रयुक्त '**कुरुते**' क्रियापद इस दृष्टि से विचारणीय है। स्वयं में '**कुरुते मूलं**' निरर्थक अथवा दुर्बोध-सा प्रतीत होता है। परन्तु प्रसंग का निर्भ्रान्त संकेत है कि कृ धातु का यहाँ 'जमाना' अर्थ में प्रयोग किया गया है। 'शत्रु भले ही वह छोटा अथवा निर्बल हो, उसकी उपेक्षा करने से वह कालान्तर में ताड़ के पेड़ की तरह जड़ जमा लेता है।[2] तब उसे उखाड़ना असम्भव हो जाता है। पद्य के उत्तरार्ध '**गहनेऽग्निरिवोत्सृष्टः क्षिप्रं संजायते महान्**' की यही ध्वनि है।

'**कालेन गच्छता सोऽथ कालं चक्रे महीपतिः** (**महाभारत**) में भी कृ का अर्थ

---

2. आदिपर्व के प्रस्तुत पद्य से भी कृ के इस अर्थ की पुष्टि होती है-
यावन्न कृतमूलास्ते पाण्डवेया विशाम्पते। आदि०, २०१, १८ (ii)
तावत्प्रहरणीयास्ते तत् तुभ्यं तात रोचताम्।। आदि०, २०१, २० (i)
जब तक पाण्डवों की जड़ नहीं जमती, हमें उन पर धावा बोल देना चाहिये। कृतमूलाः = बद्धमूलाः।

निश्चित नहीं है। संयोगवश रामायण में भी, दशरथ के शाप के रूप में, एक ऐसा समानान्तर प्रयोग मिलता है – '**एवं त्वं पुत्रशोकेन राजन् कालं करिष्यसि** (२.६४.५४)। तिलक तथा गोविन्द ने **कालं करिष्यसि का मृत्युं प्राप्स्यसि** अर्थ किया है। टीकाकार राम इसके सम्यक् अर्थ से अनभिज्ञ-सा प्रतीत होता है। उसने '**कालं पुत्रसंयोगजनितसुखकालं करिष्यसि त्यक्ष्यसि**' कह **कालं करिष्यसि** के भावार्थ को स्पष्ट करने का विफल प्रयास किया है। तिलक और गोविन्द के अनुसार कृ का अर्थ यहाँ 'प्राप्त करना' है, जो प्रसंग की दृष्टि से उचित तथा ग्राह्य है। महाभारत की उपर्युक्त उक्ति में भी कृ धातु इसी अर्थ में प्रयुक्त हुई है। अत: '**काल चक्रे**' का अर्थ '**मृत्युं प्राप**' अर्थ करना सन्दर्भ के अनुकूल होगा। 'वह राजा कुछ समय बाद मृत्यु को प्राप्त हो गया। मर गया। **विपन्न: ममार**।

यह जान कर आश्चर्य होता है कि कभी कृ धातु 'खेलना' अर्थ में प्रयुक्त होती थी ; वह क्रीड् की समानार्थक थी। महाभारतकार ने कृ का इस अर्थ में सटीक प्रयोग किया है – '**आगच्छन्तु पुनर्द्यूतमिदं कुर्वन्तु पाण्डवा:**' (महा: सभापर्व, ७४/२४)। 'पाण्डवों को बुलाओ, वे आकर पुन: जुआ खेलें'। **कुर्वन्तु क्रीडन्तु**। मनुस्मृति में भी कृ का इस अर्थ में प्रयोग हुआ है। क्तान्त रूप में कृ का एक अर्थ 'पूरा करना' था, यह महाभारत के इस वचन से स्पष्ट है – '**पृथाया न कृत: कामस्तेन चापि महात्मना**' (शान्तिपर्व, १.२७)। **कृत: पूरित:**[3]। उस महात्मा ने भी कुन्ती की कामना पूरी नहीं की। अर्वाचीन साहित्य में भी इस अर्थ में यदा-कदा कृ का प्रयोग देखा जाता है। '**समुपेत्य गमिष्यसि द्रुतं त्वमकृत्वैव मनोरथं मम**' (विश्वसंस्कृतम् ३३.४, पृ. ६०) **अकृत्वा अपूरयित्वा**।

अनुशासन पर्व में कृ के कुछ बहुत दुर्लभ/अज्ञात अर्थ सुरक्षित हैं। '**तस्मात् तडागं कुर्वीत आरामांश्चैव रोपयेत्**' (अनुशासन०, ५८.३३) में अन्तर्हितअर्थ **कुर्वीत खानयेत्** का समानार्थक है, अर्थात् अतीत में कृ का अर्थ 'खोदना' भी था। तालाब खुदवाना तथा बाग-बगीचे लगवाना पुण्य माना जाता था। '**तस्य स्वादुतयान्नस्य न प्रभूतं चकार स:**' (अनु०, २०.९) में कृ का एक और विलक्षण अर्थ छिपा हुआ है। यहाँ 'चकार' का अर्थ 'मेने' है। इससे यह प्रमाणित होता है कि कृ कभी 'मानना' अर्थ को भी कहती थी। 'वह भोजन इतना स्वादिष्ट था कि जो उसे मिला, उसने उसको तृप्ति के लिये पर्याप्त नहीं माना'। कृ धातु वैदिक काल से ही 'देना' अर्थ में प्रयुक्त होती आ रही है- **अस्मभ्यमिन्द्र वरिव: सुगं कृधि** (ऋग्वेद, १. १०२.४)। जलांजलि

3. तां प्रतिज्ञां प्रतिज्ञाय यां कर्तास्म्यचिरादिव (आदिपर्व, १३०/७४) में भी कृ का यही अर्थ है। 'मैंने वह प्रतिज्ञा की थी, मैं उसे शीघ्र ही पूरा कर दूंगा'।

देना। तर्पण करना 'दान' (देना) अर्थ का ही विस्तार है। भीष्म पितामह के महाप्रयाण के सन्दर्भ में कृ का इस अर्थ में सटीक प्रयोग किया गया है – **उदकं चक्रिरे चैव गाङ्गेयस्य महात्मनः** (अनु०, १६७/२०)। **ततो भागीरथी देवी तनयस्योदके कृते** (अनु., १६७/२१) दोनों उद्धरणों में उदक का अर्थ मात्र जल नहीं बल्कि जलांजलि है। **उदकम् उदकांजलिं चक्रिरे ददिरे। उदके उदकांजलौ कृते दत्ते।**

नोत्सृजेत पुरीषं च क्षेत्रे ग्रामस्य चान्तिके।
उभे मूत्रपुरीषे तु नाप्सु कुर्यात् कदाचन।।
अनु०, १०४.५४

इस पद्य में *उत्सृजेत* तथा *कुर्यात्* का समकक्ष के रूप में प्रयोग किया गया है जिसका निहितार्थ यह है कि दोनों क्रियापद समानार्थक हैं अर्थात् कृ का अर्थ 'त्यागना' है। पानी में मलमूत्र का त्याग करना वर्जित था।

उपर्युक्त अनुशीलन से स्पष्ट है कि कृ संस्कृत की ऐसी अनोखी धातु है जिस में वे अर्थ भी अन्तर्निहित हैं, जिनका धातु पाठ में अन्य धातुओं के अर्थों के रूप में विधान किया गया है। वे वस्तुतः उसके मूल अर्थ–क्रिया–सामान्य–के विशिष्ट रूप ही हैं, कुछ उसके विस्तार, कुछ विविध भंगिमाएँ।

7/34,पुरानी आबादी, नामदेव फ्लोर मिल के पास,
श्रीगंगानगर – 335 001

संसार की यथार्थता

– डॉ० त्रिलोचनसिंह बिन्द्रा

ईशोपनिषद् के प्रथम मन्त्र में संसार की सर्वोच्च शक्ति ईश्वर को समस्त संसार का स्वामी माना गया है। संसार के कोने-कोने के प्रत्येक अणु-परमाणु में उसे व्याप्त माना गया है। उसी के प्रशासन में संसार का प्रत्येक जड़-चेतन पदार्थ कार्य कर रहा है। वह ईश्वर संसार के प्रत्येक प्राणी को यथायोग्य पदार्थ प्रदान कर रहा है।

मनुष्य यह सोचता है कि वह जो भी कर्म कर रहा है, वह उसी का है और उसका फल भी उसी का है। मानव की यह जो सोच है, वह मिथ्या है। यह भावना उसके अपने अहंकार के कारण है, जैसा गीता (3.27) में कहा भी गया है कि 'अहंकार विमूढाऽऽत्मा कर्ताऽहम् इति मन्यते।' वास्तव में मनुष्य अकेला कुछ भी नहीं कर सकता है। उसे प्रत्येक कार्य में संसार के दूसरे घटकों की भी सहायता वांछित है। इस सम्बन्ध में आचार्य विश्वबन्धु जी ने एक उदाहरण मनुष्य को समझाने के लिए दिया है– 'यदि तात्त्विक दृष्टि से देखा जाए तो, गेहूँ का एक दाना भी मेरे, आपके और किसी अन्य के मुँह में नहीं पहुँच सकता, यदि सारे संसार के कोने-कोने में जो पदार्थ विद्यमान हैं, वे आपस में सहयोग न करें, तो यह काम कभी भी सम्पन्न नहीं हो सकता। मोटे तौर पर किसान खेती करता है, खेती का सामान लोहार और तरखान बनाते हैं। कई एक मिल करके भूमि को तैयार करते हैं, कुआं खोदते हैं, पशु साथ लगते हैं। समय पर बीज बोना, पानी का देना, गोड़ी और सफाई करना हैं। जो विषैले कीड़े फसल को खराब करने वाले हैं, जो पक्षी कच्ची व पक्की फसल को उड़ा जाने वाले हैं, उनसे फसल को बचाना है। इतना ही काफी नहीं है। लोग आकाश की ओर आंखे लगाये रहते हैं कि समय पर वृष्टि हो जाए। पकी फसल पर ओले न गिर जाएँ और आंधियां भी फसल को खराब न करें। जब चाहिए धूप तो धूप हो और जब चाहिए वर्षा तो वर्षा हो जाए। इस भौतिक संसार के सारे सिलसिले जब ठीक चलते जाएँ, तो फिर वह खेती पकती है। पक करके ठीक ठिकाने पहुँचती है और हमारे लोगों के मुँह तक गेहूँ का दाना पहुँचता है।'

जब मनुष्य की वास्तविक स्थिति ऐसी है तो मनुष्य को अहंकार किस बात का? जब तक आदमी यह सोचता है कि 'मैं ही अपने सारे कारोबार का और उसकी फल-प्राप्ति का भी वही स्वामी है, तब तक उसका अहंकार कार्य करता है और यही उसकी मूर्खता है। जब मनुष्य यह सोचता है कि वह एक सहभागी है। वह और शेष सारे व्यक्ति उसके हिस्सेदार हैं। ऐसी स्थिति में समस्त लड़ाई-झगड़े समाप्त हो जाते हैं'।

जब व्यक्ति ऐश्वर्य के नशे में चूर हो जाता है, तो उसे अपने बराबर दुनिया में कोई नजर नहीं आता। जैसे कि भर्तृहरि ने कहा है – 'जब मैं अपने को बहुत विद्वान् व सर्वस्व समझता था तो

डॉ० त्रिलोचनसिंह बिन्द्रा

उस समय मैं मद के अंधकार में चूर रहता था, पर जब मैंने विद्वानों के सत्संग से कुछ सीखना आरम्भ किया तो मेरा सारा मदान्धकार नष्ट हो गया और मुझे पता लगा कि मुझे तो कुछ भी नहीं आता। इसी प्रकार आदमी को भी जब अपनी वास्तविक स्थिति का पता चलता है तो उसका सारा नशा उड़ जाता है और वह अपने को भी समाज का एक अंग ही समझने लग जाता है।

ईश्वर की सर्व-व्यापिनी शक्ति सर्वत्र व्याप्त है। जैसे एक बड़े सरोवर से नहरें निकलती हुईं, दूर-दूर तक पहुँच कर सिंचाई का कार्य कर देती हैं और शुष्क खेतियों को हरा-भरा कर देती हैं। इसी प्रकार जीवन के स्रोत से जीवन की अनगिनत लहरें निकल रही हैं और उससे यह समस्त प्राणधारी-संसार अनुप्राणित हो रहा है।

इसलिए आदमी को यह सदा ध्यान में रखना चाहिए कि जो कुछ उसे मिल रहा है, वह ही सारा नहीं है। उसे तो एक बहुत बड़े भण्डार में से कुछ प्राप्त हो रहा है। इसलिए उसे जो बड़े भण्डार से मिल रहा है, उसका त्यागभाव से भोग करे। वह किसी दूसरे का भाग कभी न छीने। इस सम्बन्ध में भी आचार्य जी ने एक उदाहरण दिया है- 'जैसे छोटे-छोटे बल्बों की माला हो और उसे एक मकान के आगे सजा दिया जाए, तो बटन दबाने पर वे सब के सब जल उठेंगे। सारे का सारा मकान जगमगा उठेगा। इसी तरह हम सब का भी अपना-अपना जीवन, हम सबका मिल करके जीवन एक-दूसरे की सुन्दरता को, योग्यता को बढ़ाने वाला हो। छोटे से छोटे बल्ब भी यदि 500 इकट्ठे करके जगा दिए जाएं तो कितना अधिक प्रकाश होगा। इसी प्रकार हम अकेले-अकेले कुछ नहीं हैं, मिल करके हमारी विश्व-शक्ति होती है।' छोटे-छोटे बल्व का अपने छोटे घेरे के अन्दर जो काम है, वह कर्त्तव्यपूर्वक पूरा करो। ऐसा करने से एक मानवता का भाव उत्पन्न होता है। आदमी को सदा मेहनत की ही कमाई खानी चाहिए और उसमें से भी कुछ न कुछ दूसरों की भी सहायता करनी चाहिए। आदमी को इतना स्वार्थी नहीं होना चाहिए कि वह सब कुछ अकेला ही चट कर जाए। वह अपने आसपास के जरूरतमन्द लोगों का भी यथायोग्य ध्यान रखे। उदाहरण के रूप में जड़ देवता सूर्य-भगवान् को देखो। उसका अपना कोई स्वार्थ नहीं होता, पर फिर भी सब को बिना किसी भेदभाव के, एक समान प्रकाश प्रदान करता है। सूर्य-भगवान् में, फिर भी कोई स्वार्थ या अभिमान का भाव नहीं होता।

जब से यह सृष्टि बनी है, तब से न जाने कितने लोग इस धरती पर आए और अपना खेल खेलकर चले गए। कोई भी यहां पर सदा न रहा है और न रहेगा। उनके द्वारा किए हुए अच्छे या बुरे कार्यों का हिसाब-किताब ही संसार में शेष रह जाता है। ऐसी स्थिति में आदमी को कर्त्तव्यपूर्वक अपना कार्य करते हुए अपने जीवन को न्यायपूर्वक जीना चाहिए और दूसरे समाज के लोगों को भी न्यायपूर्वक जीने देना चाहिए। जीओ और जीने दो का सिद्धान्त सदा लोगों को अपने सामने रखना चाहिए। इसी ढंग से संसार में स्वस्थ वातावरण बन सकेगा।

–साधु आश्रम, होशियारपुर।

सन्दर्भ ग्रन्थ- आचार्य विश्वबन्धु-सत्संग सार। वी.वी.आर.आई. साधु आश्रम, होशियारपुर 1971।

भारत को फिर से धनुर्धर बना गये डॉ. कलाम

– श्री देवनारायण भारद्वाज

प्रतिवर्ष विजय दशहरा-पर्व पर रामलीला का प्रदर्शन करके अन्याय पर न्याय की जीत का शंखनाद किया जाता है। इस अवसर पर जो मेले लगते हैं, उनमें तीर-कमान व तलवार खिलौने के रूप में विक्रय किये जाते हैं, जिनसे बच्चों को इनके नाम एवं काम का पता रहता है। धनुर्धर होने का आशय है- सतर्क व सावधान होकर अपने अधिकार की रक्षा करना और शासक के लिए इसका सन्देश होता है- अपनी शासन-व्यवस्था को जनकल्याणकारी बनाने के साथ-साथ राष्ट्र-रक्षा के लिए सन्नद्ध रहना। वेदमाता इसी प्रकार की सीख हमको प्रदान करती है कि- (वीर पुरुष) कापुरुषों के हाथ से शासन सत्ता के प्रतीक धनुष को तेज व बल से छीनकर पुरुषार्थी जीवन्त लोगों के हाथों में सौंप देते हैं, जिससे वे सम्यक्रूप से पुष्टिकारक बहुत सारे ऐश्वर्य व यश के अधिकारी बनते हैं।[1] महाभारतकालीन महान् योद्धा अर्जुन ने लड़ने वाले सगे-सम्बन्धियों को देखकर अपना गाण्डीव स्वयं ही छोड़ दिया। योगिराज कृष्ण उसके सारथी थे, जो उन्होंने अपने गीतोपदेश द्वारा अर्जुन को युद्ध के लिए उद्यत कर दिया। ग्रामीण-भाषा में धनुष को कमान कहते हैं, जो कमाण्ड या नियन्त्रण का बोध कराती है। कमान की प्रत्यञ्चा (डोरी) यदि तनी रहती है, तभी उससे तीर भी चलता है और एकतारा की टंकार का संगीत भी निकलता है। तात्पर्य यह है कि शासन की सन्नद्धता में ही राष्ट्र की सुरक्षा और विकास की समृद्धता संभव है। देखिये :-

ऋग्वेद के अनुसार धनुष के द्वारा शत्रुओं द्वारा हरण की गयी गौओं तथा भूमि को फिर से जीतने वाले बनें। धनुष से हम संग्रामों को जीतें। इस धनुष से ही बड़े तीक्ष्ण स्वभाव वाले मदान्ध शत्रु सैन्यों को जीतें। यह हमारा धनुष ही शत्रुओं की विजय की अभिलाषा को चूर्ण करता है। धनुष ही सभी दिशा-दिशान्तर में हमें दिग्विजयी बनाता है।[2] रामायण एवं महाभारत काल के काव्यों का जब हम अवलोकन करते हैं तो महर्षि विश्वामित्र एवं महर्षि परशुराम प्रभृति युद्ध-कौशल एवं

1. अथर्व. 18.2.60

2. ऋग्वेद,6. 75. 2

शास्त्रास्त्र विद्या में निपुण देखे जाते हैं और वे अपने शिष्यों को इसके लिए प्रशिक्षित भी करते हैं।

डॉ. होमी जहाँगीर भाभा तथा डॉ. विक्रम साराभाई यद्यपि अल्पायु में ही अनहोनी मृत्यु को प्राप्त हो गये, किन्तु उन्होंने जो योगदान भारत की सुरक्षा में प्रदान किया, वह अमूल्य ही नहीं, प्रत्युत डॉ. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम की प्रेरणा का स्रोत भी बना। हम "हिन्दी-चीनी भाई-भाई" का नारा लगाकर चीनी नेताओं का स्वागत करते रहे, किन्तु उन्होंने इसकी उपेक्षा कर नवोदित स्वतन्त्र भारत के ऊपर सन् 1962 में भयंकर आक्रमण कर दिया। उन दिनों दूरदर्शन इतना प्रचलित नहीं था, किन्तु आकाशवाणी पर सेवानिवृत्त लोकप्रिय प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने रुग्णावस्था में सदाकत आश्रम (बिहार) से जो वेदनापूर्ण वर्जना की थी, और भारत के लोकप्रिय प्रथम प्रधानमंत्री ने जो हृदयघातकारी गर्जना की थी, वह लेखक के कानों में आज भी गूँज रही है। ये दोनों ही महापुरुष कुछ ही काल बाद हमसे विदा हो गये, किन्तु भारतीयों के नेत्रों में पश्चात्ताप, प्रतिज्ञा का महान् संकल्प सजों गये। जिससे भारत सतर्क सावधान होकर खड़ा हुआ, और सन् 1965 में अपने दूसरे नापाक आक्रमणकारी पड़ोसी को धूल चटा दी। मर्यादापुरुषोत्तम राम एवं योगिराज कृष्ण का आदर्श-अनुगमन करते हुए गिड़गिड़ाते शत्रु को, गरल का घूँट पीकर भी ताशकन्द के समझौते में जीती हुई भूमि लौटा दी। इस षडयंत्र में अपने लाड़ले पुत्र भारत के द्वितीय प्रधानमंत्री लालबहादुर शास्त्री का असामयिक बलिदान भी भारत माता को झेलना पड़ा।

इन सभी सम-विषम परिस्थितियों में अवतरण होता है वीर सेनानियों का, धीर राष्ट्र-नेताओं का और गम्भीर वैज्ञानिक डॉ. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम एवं उनके सहकर्मियों का, जो भारत-राष्ट्र के हाथ में सबल संहारक धनुष फिर पकड़ा देते हैं। उन्हें अपने प्राचीन योद्धाओं एवं अस्त्र-शस्त्र के संदर्श से जो प्रेरणा मिलती है, उसी के आधार पर प्रारम्भ होते हैं, उपग्रह प्रेषण, अन्तरिक्ष यान, प्रक्षेपणास्त्र (मिसाइल) त्रिशूल, लक्ष्य, पृथ्वी, अग्नि, नाग और आकाश आदि और पोखरण में परमाणु परीक्षण के विस्फोट। क्या आपको पता है कि अपने सुख-दुःख, संकट के समय हिन्दी न जानने पर भी राष्ट्रभाषा के एक गीत की पंक्तियाँ गुनगुनाकर डॉ. कलाम स्वयं को सुसंयत बना लिया करते थे :-

होंगे कामयाब,
हम होंगे कामयाब,
हम होंगे कामयाब एक दिन।
हो-हो-हो पूरा है विश्वास, मन में है विश्वास,
हम होंगे कामयाब एक दिन।

आई.पी.एस. पद त्याग कर सत्यार्थ-

प्रकाश के अनुरागी तमिलोद्भव महात्मा धर्मबन्धु से डॉ. कलाम के प्रगाढ़ मैत्री सम्बन्ध रहे हैं। सम्भवतया इसीलिए डॉ. कलाम "**मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान् पुरुषो वेद**" की शिक्षा सम्पूर्ण भारत में घूम-घूम देते रहे हैं। राष्ट्रपति बनने से पहले ही डॉ. कलाम भारत- रत्न हो गये थे। पदग्रहण करते ही डॉ. कलाम ने गरिमामय घोषणा की थी "भारत के युवा नागरिक होने के नाते, प्रौद्योगिकी, ज्ञान और देश-प्रेम से युक्त मैं महसूस करता हूँ कि छोटा लक्ष्य अपराध है।" प्रेक्षपणास्त्र पुरुष, दार्शनिक तथा राष्ट्रपति होते हुए भी वे सदैव एक शिक्षक की भूमिका-निर्वहन करते रहे। यहाँ पर उनके सम्पूर्ण जीवन-वृत्तान्त का वर्णन संभव नहीं। इसके लिए तो आपको उनके आत्मकथ्य को 'अग्नि की उड़ान', व 'तेजस्वी मन' आदि ग्रन्थों का वाचन करना पड़ेगा। प्रक्षेपणास्त्र पुरुष, दार्शनिक तथा राष्ट्रपति होते हुए भी वे सदैव शिक्षक की भूमिका निर्वहन करते रहे। भारत के सुदूर दक्षिण के रामेश्वरम-धनुषकोटि के सिन्धु जलकणों से उपजा यह पुनीत पंकज सुदूर उत्तर के मेघालय स्थित श्वेत शिलांग के हजारों फीट ऊँचे रजकणों का संस्पर्श करते हुए सूर्य के साथ ही अस्ताचल में विलीन हो गया। प्रौद्योगिक शिक्षण संस्थान के महामन्दिर में माता के मस्तक को ऊँचा करने का सपूत का यह महाबलिदान है। शिलांग की शिलायें भी अश्रुविगलित करते हुए मानो गुंजन कर रही हों-

जो भरा नहीं है भावों से,
बहती जिसमें रसधार नहीं।
वह हृदय नहीं है पत्थर है,
जिसमें स्वदेश का प्यार नहीं।।

जहाँ योगेश्वर कृष्ण के अनुकरणकारी राष्ट्रनायक, जहाँ अर्जुन जैसे धनुर्धारी अनुयायी योद्धा हों, वहाँ श्री, विजय, विभूति एवं अचलनीति सदा विराजते हैं। एक हाथ में धनुष (प्रक्षेपणास्त्र) दूसरे में रुद्रवीणा धारी, संस्कृतज्ञ कलाम के मुख से प्रस्फुटित एक श्लोकीय गीत की यही तो घोषणा है :-

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्धुवा नीतिर्मतिर्मम।।

–"वरेण्यम्" अवन्तिका (प्रथम), रामघाट मार्ग,
अलीगढ़ (उ.प्र.)।

महाभारतकालीन समाज का खान-पान

- डॉ. प्रवीणसिंह राणा

जल, वायु और आहार मनुष्य को जीवन जीने के लिए अत्यावश्यक होते हैं। ये तीनों जितने शुद्ध हों मनुष्य उतना ही स्वस्थ होता है। प्राचीनकाल में इन तीनों को भगवान् तुल्य माना जाता था। जलस्रोत-नदियों को देवी का दर्जा प्राप्त था, उन्हें मैया कहा जाता था। हमारे ऋषियों की कितनी उच्च अवधारणा थी नदियों के बारे में। आज जल-प्रदूषण एक भयावह समस्या का रूप धारण कर चुका है। 80% बीमारियाँ जल-प्रदूषण के कारण ही हो रही हैं। उद्योग और वाहनों की बढ़ती संख्या ने हमारे वायु को प्रदूषित कर दिया है और रहती कसर हमारे आज के खानपान ने पूरी कर दी है। हम लोग शुद्ध आहार-विचार वाले पूर्वजों की सन्तान हैं। यह ठीक है कि आहार शरीर की रक्षा के लिए किया जाता है, परन्तु आहार का हमारे मन के साथ बहुत निकट का सम्बन्ध है। शायद तभी यह कहा गया है- जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन।

महाभारत को देख कर लगता है कि तत्कालीन समाज के आहार और आज के आहार में कोई विशेष अन्तर नहीं है। आज थोड़ा अन्तर आया है तो वह है पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से हमारे खानपान में फास्ट-फूड (Fast food) भी जुड़ गया है। जो फायदा कम और नुकसान ज्यादा कर रहा है। महाभारत के भीष्मपर्व में कहा गया है जो खाद्य पदार्थ आयु, सत्त्व, बल, स्वास्थ्य, सुख और प्रेम को बढ़ाने वाले होते हैं वही सात्त्विक प्रकृति के लोगों को प्रिय होते हैं।[1]

महाभारतकाल के लोगों की आहार विषयक कुछ विशेषताएँ यहाँ उल्लेखनीय हैं-

1. दिन में केवल दो बार भोजन करने का विधान-

सामान्यतया व्यक्ति दिन में दो बार भोजन लेता था, परन्तु विरला व्यक्ति तीन बार भी भोजन लेता था। दिन में दो बार भोजन लेना प्रशंसनीय माना जाता था। दिन में दो बार भोजन लेने वाले को 'उपवासी' माना जाता था।[2]

2. शाकाहार-

लोग रुचि अनुसार आहार लेते थे लोगों के

1. महा. भीष्मपर्व, 41.8-10
2. वही, शान्ति. 193.10; अनु. 93. 10

खाद्य में जौं और चावल प्रधान आहार थे। ब्रीहि और यव का हर जगह वर्णन आया है।[3] इसके अतिरिक्त दूध, दही, घी, गुड़, तिल, माँस, मछली, अनेक प्रकार के साग इत्यादि खाद्य पदार्थों का महाभारत में वर्णन आता है। माँसभक्षण का विधान और निन्दा दोनों का ही वर्णन है। माँसभक्षण निन्दनीय समझा जाता था और माँसाहारी को क्रूर व्यक्ति समझा जाता था।[4] अपने वनवास के समय पाण्डव कन्दमूल खाकर अपना निर्वाह करते थे।[5] यद्यपि माँसआहारी व्यक्तियों का भी वर्णन प्राप्त है पर सर्वत्र ही मांसाहारी भोजन को महाभारत में निन्दनीय माना जाता था।[6]

3. दूध, दही की श्रेष्ठता-

महाभारत के अध्ययन से ज्ञात होता है दूध और दही उस समय का प्रिय पेय था। इन दोनों का काफी प्रयोग होता था। अनुशासनपर्व में दानधर्म प्रकरण में गोदान का महत्त्व बताते समय गाय के दूध की अमृत से तुलना की गई है।[7]

4. सोमरस का प्रचलन-

महाभारत में सोमरस पान का वर्णन बहुत कम मिलता है। ऐसा लगता है कि सोमरस का पान धनी लोगों तक ही सीमित था। एक सन्दर्भ में आता है कि जिसके घर में तीन वर्ष की खाद्य सामग्री हो, वही सोमपान का अधिकारी है।[8] परन्तु सुरापान की प्रथा महाभारत के समय में थी। अभिमन्यु के विवाह में सुरापान का वर्णन आता है।[9] अन्य सभी आमतौर पर युद्ध के लिए जाते समय उत्साहवृद्धि के लिए सैनिक सुरापान करते थे। कुछ लोग आजकल की तरह केवल शौक के लिए भी मद्यपान करते थे। यदुवंश में सुरापान की अधिकता देखी गयी है, अन्त में उसी के फलस्वरूप यदुवंश का विनाश देखा गया।[10] यद्यपि महाभारतकाल में सुरापान वर्णन पाया जाता है परन्तु फिर भी वहाँ ऐसे कई सन्दर्भ मिलते हैं जहाँ सुरापान को निन्दनीय कहा गया है।[11] महाभारत काल में गौ को सबसे बड़ा धन समझा जाता था उस समय राजाओं के पास लाखों गौ रहती थीं गौ को धन माना जाता था, यही कारण है वनवास के समय पाण्डवों के अज्ञातवास का पता लगाने के लिए दुर्योधन ने विराट की गौशाला को लूट कर लाने का षड्यन्त्र चला था, क्योंकि गौओं का अपहरण करने से विराट की शक्ति को शिथिल करने एवं पाण्डवों का पता लगाने जैसे महान् दो

3. अनु. 93. 33; 44;आदि 85. 13
4. वही, अनु. 116. 11-36
5. वनपर्व 2. 8; 261. 3
6. वही, 207. 14
7. अमृतं वै गवां क्षीरमित्याह त्रिदशाधिपः। अनु. 66. 45
8. शान्ति. 164. 5
9. सुरामैरेयपानानि प्रभूतान्युपहारयन्। विराट. 71. 28
10. मद्यं मांसमनेकशः । मौषल. 3. 8
11. सुरान्तु पीत्वा पततीति शब्दः। शान्ति. 141. 90
12. कर्ण. 45. 29 ; अनु. 78. 17

कार्य सिद्ध होते थे। महाभारत में गोहत्या को महान् पाप बताया गया है।[12]

5. अन्नग्रहण में विधि-निषेध -

सामान्य और विशेष अवस्था में ही अन्नग्रहण में विधि-निषेध का प्रावधान था। भूख से प्राण छूटने की अवस्था में व्यक्ति को जो मिले उसी को खाकर प्राण बचाने का प्रावधान था।

6. आर्थिक-आधार पर आहार की निर्भरता-

आमतौर पर महाभारत में ऐसा देखने को मिलता है कि व्यक्ति अपनी आर्थिक सम्पन्नता के अनुसार ही भोजन ग्रहण करता था। धनी लोग माँस इत्यादि का भी सेवन करते थे। मध्यवर्गीय लोग दूध, दही, शाक-सब्जियों का प्रयोग करते थे और गरीब की स्थिति आज के गरीब की तरह ही थी। भोजन मुख्यतया स्त्रियाँ ही बनाती थीं परन्तु पुरुषों को भी पाककला का ज्ञान होता था। राजा नल बहुत अच्छा खाना बनाते थे। अज्ञातवास के समय में भीम ने राजा विराट के रसोईये का काम किया था।

7. भोजन करने के नियम -

भोजन खाते समय किन-किन बातों का ध्यान रखना चाहिए उन सब का वर्णन महाभारत में मिलता है। भोजन ग्रहण करने से पहले अच्छी तरह हाथ, पैर, मुँह धोकर तीन बार आचमन करने का विधान पाया जाता है। भोजन करने का स्थान और पात्र साफ-सुथरे होने चाहिएँ। जूता पहन कर भोजन खाना निषिद्ध था। एकाग्रचित और मौन धारण करके भोजन करना चाहिए। भोजन करने के उपरान्त तीन बार मुँह धोकर दाँत साफ करने चाहिए। अनुशासनपर्व के अध्याय 104 में भोजन करने की विस्तृत नियमावली दी गई है।

यहाँ निष्कर्ष रूप में इतना लिखने में कोई संकोच नहीं होगा कि महाभारत के समय से लेकर आज तक हम लोगों के खान-पान में कोई विशेष परिवर्तन नहीं दिखाई देता है। अगर अन्तर आया है तो इस चीज का कि आज की पीढ़ी के भोजन में फास्ट फूड, डिब्बाबन्द खाद्य-पदार्थ और हानिकारक पेय-पदार्थ शामिल हो गये हैं।

– प्रोफैसर, सरकारी कालेज, होशियारपुर ।

---

12. कर्ण. 45. 29 ; अनु. 78. 17

सद्गुरु महिमा अनन्त है

– श्री. ताराचन्द आहूजा

गुरु शब्द की उत्पत्ति 'गु' + 'रु' दो अक्षरों के संयोग से निष्पन्न हुई है। 'गु' का अर्थ है अंधकार और 'रु' का अर्थ है प्रकाश। अर्थात् जो तत्त्व मनुष्य को अंधकार से प्रकाश की ओर ले जाए वह गुरु है। धर्मशास्त्र का कथन है कि परमात्मा की असीम अनुकंपा से यह अमूल्य मानवदेह प्राप्त हुई है। इसका एकमात्र उद्देश्य है– चौरासी लाख योनियों के बंधन से मुक्त होना, जन्म और मृत्यु को सार्थक बनाना, भवसागर से पार उतरना। यह उद्देश्य प्रभु की अनन्य भक्ति द्वारा ही पूर्ण हो सकता है। प्रभु की भक्ति एक अथाह सागर है जो अपने भीतर अनेक मणियों और मोतियों को समाहित किए हुए है। जिस किसी ने भी इस अनन्य भक्ति में गोता लगाया वह आनंद और शक्ति के बेशकीमती सागररत्नों से मालामाल हो गया।

भक्ति दो प्रकार की होती है– सकाम और निष्काम। सकाम भक्ति वह है जो किसी इच्छा की पूर्ति के लिए की जाती है। निष्काम भक्ति वह है, जहाँ एक भक्त सभी सांसारिक भावनाओं से रहित होकर केवल परमात्मा प्राप्ति की ही इच्छा रखता है। दुःख से पीड़ित व्यक्ति परमात्मा को पुकारता है। यह भी एक प्रकार की सकाम भक्ति है जिसमें दुःख से निवृत्त होने की कामना होती है। मनुष्य तभी दुःखी होता है जब वह परमात्मा से विमुख होता है, उसे भूल जाता है।

इसे विडम्बना ही कहा जाएगा कि मनुष्य की स्मृति में हर समय सारा संसार तो रचा बसा है, परन्तु वह परमात्मा को अपने मन में नहीं बसाता जो उसके जीवन का आधार है। इसीलिए वह दुःखी एवं अशान्त रहता है। जैसे एक नाव का आधार जल होता है क्योंकि उसी पर ही वह तैर कर नदी पार करती है। यदि नाव अपने आधार जल से अलग हो जाए तो वह केवल एक काठ का टुकड़ा मात्र ही रह जाएगी और जल में डूब जाएगी। इसी प्रकार जीवात्मा मानवदेह पाकर भी यदि परमात्मा की भक्ति को अपना जीवनाधार नहीं बनाता तो वह अनंत दुःखों को सहन करने के लिए बाध्य हो जाता है।

गुरु प्रभु की भक्ति में रमाने वाला प्रेरक-तत्त्व है। भारतीय संस्कृति में गुरु को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। गुरु की महत्ता बताते हुए

यहाँ तक कहा गया है कि संसार में गुरु ही नेत्र है, गुरु ही दीप है, गुरु ही देवता है, गुरु ही दिग्मंडल है तथा गुरु ही सद्गति स्वरूप है। पातञ्जल योगदर्शन में कहा गया है– **जैसे सूर्य प्रगाढ़ अंधकार में स्थित पदार्थों को प्रकाशित करता है उसी प्रकार गुरु अज्ञान के अंधकार में भटकते हुए जीवों को ज्ञान की ज्योति प्रदान करता है।** (12.16)

सद्गुरु आत्मा और परमात्मा के बीच सेतु का काम करता है। गुरु मनुष्य को असत् से सत् की ओर, अंधकार से प्रकाश की ओर, अज्ञान से ज्ञान की ओर, और मृत्यु से अमृत की ओर यात्रा कराने में दिव्य वाहन के रूप में सहयोग करता है। गुरु को परब्रह्म के समान माना गया है क्योंकि वही हमें अपने ईश्वर के द्वार तक ले जाता है। गुरु में अलौकिक शक्ति है जो हमारे जीवन रूपी नाव को गंतव्य स्थान तक पहुँचा सकती है। इसीलिए सन्त कबीरदास कहते हैं कि–

गुरु गोबिन्द दोउ खड़े,
काके लागो पाय।
बलिहारी गुरु आपने,
जिन गोबिन्द दियो मिलाय।।

संत-महात्मा कहते हैं कि जहाँ माता-पिता हमें स्थूल शरीर प्रदान करते हैं, वहीं सत्गुरु हमें तत्वज्ञान देकर पशु से मानव बनाते हैं अर्थात् एक नया जन्म देते हैं और भवसागर से पार लगाने में हमारी सहायता करते हैं। सत् गुरु की महिमा अनंत है क्योंकि उसकी महिमा का गुणगान शब्दों में नहीं किया जा सकता। महापुरुषों ने कहा भी है–

सत्गुरु महिमा अनंत है,
वरन सके कवि कौन।
ब्रह्मा विष्णु थक गए,
सप्त ऋषि रहे मौन।।

शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है– **'मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरुषो वेद'** अर्थात् इस संसार में तीन उत्तम शिक्षक हैं– माता, पिता और सत्गुरु जो मनुष्य को सही अर्थो में मानव बनाते हैं। माता-पिता तो हमें भगवान् की इच्छा से मिलते हैं लेकिन सत्गुरु की खोज हम भगवान् की अनुकंपा से और अपनी इच्छा से कर सकते हैं। पूर्ण गुरु की खोज करना महत्वपूर्ण उपलब्धि है क्योंकि वही हमारी जीवनरूपी नैया को भवसागर के पार लगाने की क्षमता रखता है। पूर्ण गुरु वह होता है जिसे न केवल वेदों-शास्त्रों का ज्ञान होता है वरन् वह ब्रह्मनिष्ठ भी होता है अर्थात् ब्रह्म से साक्षात्कार कर चुका होता है। जिस प्रकार एक जलता हुआ दीपक ही दूसरे बुझे हुए दीपक को जलाकर प्रकाशवान् बना सकता है, उसी प्रकार एक पूर्ण सत्गुरु ही मनुष्य को अपने ज्ञान से आलोकित कर परमात्मा से मिलाप करा सकता है। इसलिए पूर्ण गुरु की खोज का कार्य अत्यन्त दुरूह और महत्वपूर्ण है।

एक श्रोत्रिय व ब्रह्मनिष्ठ समर्थ गुरु की प्राप्ति मनुष्य के लिए परम सौभाग्य का विषय है। भौतिक निर्वाह की आवश्यकता की पूर्ति तो पिता भी कर देता है पर आध्यात्मिक प्रगति के लिए जिन वस्तुओं की आवश्यकता है उसमें मनःस्थिति के अनुरूप मार्गदर्शन करने तथा सौंपे हुए कार्य को कर सकने के लिए आवश्यक सामर्थ्य गुरु अपने संचित, तप-भंडार में से निकाल कर हस्तान्तरित करता है। इसके बिना अनाथ बालक की तरह मनुष्य एकाकी पुरुषार्थ के बलबूते उतना नहीं कर सकता जितना अपेक्षित है। संतों ने सत्य ही कहा है- **'गुरु बिनु होहिं न ज्ञान'**। अर्थात् गुरु के बिना ज्ञान की प्राप्ति संभव नहीं। गुरु द्वारा प्रदत्त आत्मिक ज्ञान ही शिष्य का संबल होता है।

सद्गुरु मानवदेह में अभिव्यक्त परम-चेतना के ऐसे ज्योतिपुंज हैं जो हमें हमारे सत्स्वरूप से परिचित कराते हैं। हमारी अन्तर्निहित शक्तियों को जागृत कर हमें जीवन में इहलौकिक एवं पारलौकिक लक्ष्य को पाने का मार्ग बताते हैं। बिना सक्षम गुरु के हम अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकते हैं। महापुरुषों ने कहा है-

खोज बड़ी संसार रे साधो,
खोज बड़ी संसार।
खोजतखोजत सतगुरु पाइये,
सतगुरु संग करतार।।

भारतीय संस्कृति के आधारभूत ग्रन्थ वेदों में माता-पिता और गुरु को देवता के समकक्ष माना गया है। इन तीनों प्रत्यक्ष देवताओं की सेवा से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति होती है। गुरु के बिना सद्गति संभव नहीं है। भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्ण अवतारी पुरुष होने के बावजूद अपने-अपने समय के सद्गुरु श्रीवासिष्ठ जी और श्रीसांदीपनि जी के आश्रम में गए और आत्मज्ञान प्राप्त किया। श्रीरामचरितमानस के अनुसार भगवान् श्रीराम प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर अपने माता-पिता और गुरु के श्रीचरणों में अपना शीश नवाकर प्रणाम किया करते थे जैसा कि मानस में कहा है-

प्रातःकाल उठि कै रघुनाथा।
मातुपितु गुरु नांवहि माथा।।

महाकवि गोस्वामी तुलसीदास जी ने तो श्रीरामचरितमानस के प्रारम्भ से ही गुरु की वन्दना की है। उन्होंने **'वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम्'** कहकर गुरु को **'कृपासिन्धु नररूप हरि'** के नाम से संबोधित किया है। गुरु के बिना आत्मज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती और आत्मज्ञान की प्राप्ति के बिना परमधाम में प्रवेश नहीं मिल सकता। महर्षि शंख ने कहा है कि माता-पिता और गुरु मनुष्य के लिए सदैव पूजनीय होते हैं। जो इन तीनों की सेवा नहीं करता और उचित सम्मान नहीं देता, उसकी समस्त क्रियाएं निष्फल हो जाती हैं।

सद्गुरु की महिमा का बखान कहां तक किया जाए। महापुरुष कहते हैं कि पारस पत्थर तो लोहे को सोना ही बनाता है, परन्तु सद्गुरु तो शिष्य को अपने जैसा बनाकर ईश्वर से ही मिला देता है और चौरासी के चक्रव्यूह से सदा के लिए मुक्त करा देता है। पद्मपुराण में कहा गया है- सूर्य दिन में प्रकाश करता है, चन्द्रमा रात्रि में प्रकाशित होता है और दीपक घर में उजाला करता है, परन्तु गुरु अपने शिष्य के हृदय में दिन-रात सदा ही प्रकाश फैलाता रहता है। वह शिष्य के सम्पूर्ण अज्ञानमय अंधकार का नाश कर देता है। अतएव शिष्य के लिए गुरु ही परमतीर्थ है- **'गुरु:परमं तीर्थं'.... (भूतिखंड 85/12-14)**

शिष्य के लिए गुरु का उपदेश हमेशा शुभ और कल्याणकारी होता है। श्रीरामचरितमानस में भगवान् शंकर कहते हैं कि माता-पिता, गुरु और इष्टदेव की बात को बिना विचारे ही करना अथवा मानना चाहिए-

मातृ पिता गुरु प्रभु कै बानी।
बिनहिं बिचार करिअ शुभ जानी।।

- निदेशक, धार्मिक पुस्तकालय, 4/114, एस.एफ.एस., अग्रवाल फार्म, मानसरोवर, जयपुर - 302020 ।

महाकवि अश्वघोष के महाकाव्यों की दार्शनिक मीमांसा के अभिव्यञ्जक उपमान

- डॉ. राजकुमार महाजन

महाकवि अश्वघोष को कोमल एवं ललित वाङ्मय के द्वारा बौद्ध-धर्म एवं दर्शन का चतुर्दिक् प्रसार करना ही अभीष्ट था, क्योंकि रूक्ष एवं दुरूह दार्शनिक तत्त्वज्ञान मोहाभिभूत हृदय के द्वारा सद्यः ग्राह्य नहीं होता। अश्वघोष को वह पूर्णतः ज्ञात था कि जिस प्रकार एक सुन्दरी अपनी रसभरी मीठी बातों से अपने प्रियतम को प्रसन्न कर अभीष्ट का सम्पादन करा लेती है, उसी प्रकार यह कोमल कलेवर वाली कविता भी सहृदयों को सद्यः आवर्जित कर अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। सच्ची अनुभूतियों की सरस अभिव्यक्ति होने के कारण यह सहृदयों के कोमल हृदयों पर अपना अमोघ प्रभाव जमा लेती है। यही कारण है कि अश्वघोष ने बौद्ध-धर्म एवं दर्शन के तात्त्विक ज्ञान को जन-जीवन तक पहुँचाने के लिये प्रसन्न-पदावली से समन्वित काव्यकला का आश्रय लिया है और अपने दार्शनिक सिद्धान्तों को काव्य का कोमल कलेवर प्रदान करने में उन्हें अद्‌भुत सफलता भी मिली है।

दार्शनिक किसी बात को समझाने के लिए उदाहरणों को देता हुआ कंटीली राहों से चलता है किन्तु कवि उन्हीं बातों को हृदयंगम कराने के लिए आँखों के सामने कलात्मक चित्र प्रस्तुत कर कुसुमों से लदी राहों से ले चलता है जहाँ पाठक सुगमता से चलकर कठिन से कठिन बातों को भी अनायास जान लेता है। इसी पृष्ठभूमि में यह देखा जा सकता है कि अश्वघोष ने अपने महाकाव्यों में दार्शनिक विचारों को अभिव्यक्त करने के लिये सबसे अभीष्ट मार्ग ''उपमान-योजना'' को अपनाकर पाठक को दार्शनिक-तत्त्व सुगमता से हृदयंगम कराने का सफल प्रयास किया है।

चार आर्यसत्य एवं उनकी अभिव्यक्ति में उपमान-योजना :-

महाकवि अश्वघोष के महाकाव्यों में मुख्य रूप से बौद्धधर्म सम्बन्धी विचार ही अभिव्यक्त हुए हैं अतः उनकी अभिव्यक्ति के लिये अश्वघोष ने विविध उपमानों का सुन्दर प्रयोग किया है। अश्वघोष ने जिन चार आर्य-सत्यों का विस्तार से अपने महाकाव्यों में विवेचन किया है उनमें सबसे प्रमुख दुःख है।

दु:ख-

लौकिक दृष्टान्तों के सहारे महाकवि अश्वघोष ने बौद्ध-दर्शन के दु:खवाद का सम्यक् ढंग से प्रतिपादन किया है। पवन सतत आकाश में रहता है, अग्नि शमी के गर्भ में रहती है और जल वसुधा के अन्त:प्रदेश में रहता है, उसी प्रकार शरीर और चित्त में दु:ख की स्थिति बनी रहती है। यथा पानी का स्वभाव द्रवत्व है, पृथ्वी का कठिनत्व है, वायु का चंचलत्व तथा अग्नि का औष्णभाव है, उसी प्रकार चित्त और शरीर का स्वभाव दु:ख है।[1]

अश्वघोष ने सभी दु:खों का कारण जन्म माना है। जैसे सभी औषधियों की उत्पत्ति पृथ्वी से होती है, उसी प्रकार जरा इत्यादि विपत्तियों का मूल जन्म है।[2] वेगवान् दु:ख को व्याधिरूप फेन से व्याप्त तथा जरा रूप तरंग वाला स्वीकार किया गया है।[3] दु:ख का कारण विषय और कल्पना माना गया है। जैसे वायु और इंधन दोनों के होने पर अग्नि प्रज्वलित होती है, वैसे ही विषय और कल्पना दोनों के होने पर क्लेश रूपी अग्नि उत्पन्न होती है।[4]

अश्वघोष के अनुसार जिस प्रकार अत्यन्तरूपेण निचोड़ी गई ईख जमीन पर सूखने के लिए फैंक दी जाती है, उसी प्रकार जरारूपी यन्त्र से निपीड़ित शरीर मृत्यु की प्रतीक्षा करता है।[5] दु:ख के कारण जरा के विषय में अश्वघोष कहते हैं कि जिस प्रकार दो मनुष्यों के द्वारा चलाया गया आरा ऊँचे देवदारु वृक्ष को अनेक खँडों में काट देता है, उसी प्रकार रात और दिन के द्वारा समीप लाई गई जरा भी व्यक्तिविशेष को छिन्न-भिन्न कर देती है।[6] अश्वघोष के अनुसार जिस प्रकार तृण बिना प्रयत्न के और धान विशेष कठिनाई से उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार दु:ख बिना यत्न के आते हैं और सुख यत्न से।[7] जरा के विषय में एक अन्य दृष्टान्त द्रष्टव्य है। अश्वघोष कहता है कि जब यमराज अमंगल व्याध के समान जरा रूप धनुष लिए हुए खड़ा है और व्याधि रूप बाणों को छोड़ता हुआ भाग्य रूप वन में रहने वाले प्रजा रूप मृगों को वेध रहा है, तब बुढ़ापे के प्रति मनोरथ क्या।[8] महात्मा बुद्ध को जरा का नाम सुनकर कितना दु:ख हुआ- इसको स्पष्ट करने के लिए अश्वघोष ने सुन्दर उपमान प्रयुक्त किया है :- वह महात्मा जरा को सुनकर वैसे ही उद्विग्न हुआ जैसे समीप में महावज्र का शब्द सुनकर गाय व्याकुल हो जाती है।[9]

बौद्धमत के अनुसार सम्पूर्ण संसार दु:खमय है। यह पंचस्कन्ध जिसके लिए हम नित्यप्रति चिन्तित रहते हैं, दु:खमय है। संसार

---

1. बुद्धचरित 9/57
2. सौन्दरनन्द 16/7
3. वही, 1/70
4. वही, 13/50
5. वही, 9/31
6. वही, 9/32
7. वही, 9/39
8. वही, 11/62
9. बुद्धचरित 3/34

की एवं इस शरीर की निस्सारता को व्यक्त करने के लिए अनेक उपमानों का सुन्दर नियोजन हुआ है। यह शरीर मृन्मय घट से भी असार है क्योंकि विधिवत् रखा हुआ घट चिरकाल तक रह सकता है लेकिन इस शरीर को अच्छी तरह रखा जाने पर भी नष्ट हो जाता है।[10] यह शरीर किंचित् व्यतिक्रम भी नहीं सहता, जैसे विषधर सर्प रौंदे जाने पर प्रकुपित हो जाता है।[11] शरीर को जलफेन के समान नश्वर[12] तथा संसार को जल के बुलबुले के समान दुर्बल एवं असार[13] माना गया है। मृत्यु के बारे में कहा है कि जो मारने की इच्छा वाली मृत्यु गर्भकाल से ही लोगों का पीछा करती है, तलवार उठाए हुए शत्रु के समान उस मृत्यु पर कौन विश्वास करेगा।[14] अश्वघोष पुनः कहते हैं कि जीवन में क्षणभर के लिए भी विश्वास नहीं करना चाहिए क्योंकि छिपे हुए बाघ के समान काल विश्वास करने वाले की हत्या करता है।[15] निश्चय ही यह संसार अरक्षित है जो चक्र की भान्ति घूम रहा है[16] तथा केले के गर्भ की भान्ति निःसार है।[17] इसके अतिरिक्त जीवात्मा भी मुंज से निकली सींक की तरह एवं पिंजड़े से निकले हुए पक्षी की तरह देह से अन्तकाल में मुक्त हो जाती है।[18] अश्वघोष ने शरीर को नदी तट के वृक्ष से उपमित कर उसकी अस्थिरता को अभिव्यक्त किया है[19] तथा दूसरी ओर संसार को तो अश्वघोष प्रायः घने जंगल से उपमित करते हैं।[20]

दुःख समुदय :-

महाकवि अश्वघोष ने द्वितीय आर्य सत्य दुःख समुदय ''तृष्णा'' का सम्यक् विवेचन करते हुए तृष्णा एवं कामवासनादि विषयों को बड़े सुन्दर ढंग से विविध उपमानों द्वारा उपमित करके अत्यन्त सरस एवं स्वाभाविक शैली में निरूपण किया है। अश्वघोष के अनुसार मनुष्य विषयों की आसक्ति में ही निमग्न रहता है लेकिन विषयों से इन्द्रियों को तृप्ति कभी नहीं होती जैसे निरन्तर जल से पूर्यमाण समुद्र सन्तृप्त नहीं होता।[21] पुनः विषय तृषित व्यक्ति को विषयों से उसी प्रकार तृप्ति नहीं होती जिस प्रकार पवन के साथ अग्नि को इंधन से तृप्ति नहीं होती।[22] और जिन विषयों को ढूँढकर और पाकर उत्तरोत्तर लालसा होती है एवं जिन विषयों को न छोड़ने वाले दुःख पाते हैं, संसार में तृणों की उल्का के समान उन विषयों में किस आत्मवान् को रति होगी।[23] इस

10. सौन्दरनन्द 9/11
11. वही, 9/14
12. वही, 9/6
13. वही, 15/63
14. वही, 15/59
15. वही, 15/53
16. बुद्धचरित 14/5
17. वही, 14/6
18. वही, 12/64
19. सौन्दरनन्द 9/6
20. बुद्धचरित 1/72, सौ. 5/40, 18/32
21. सौन्दरनन्द 13/40, बु., 11/12
22. बुद्धचरित 11/10
23. वही, 11/23

प्रकार अश्वघोष ने दु:ख को तृष्णा का कारण माना है। विषयों के विषय में कहा है कि जिस प्रकार रस, वर्ण और गन्ध से युक्त किम्पाक फल (आयुर्वेद शास्त्र में वर्णित एक ऐसा फल जो खाने पर मनुष्य मृत्यु को प्राप्त होता है) का उपयोग मृत्यु के लिए होता है, उसी प्रकार सेवित किए जाने वाले विषय चंचलात्मा व्यक्ति के अनर्थ के लिए होते हैं, कल्याण के लिए नहीं।[24] सौन्दरनन्द में नन्द विषयों से उत्पन्न हुए दु:ख के विषय में कहता है कि जिस प्रकार कोई मनुष्य मृदु आतप से तपा हुआ महाग्नि में जल जाता है, उसी प्रकार पहले मृदु राग से अभितप्त हुआ अब मैं इस राग रूपी अग्नि से जल रहा हूँ।[25] यह रागाग्नि मुझे आज ही जला डालना चाहती है जिस प्रकार उठी हुई दावाग्नि वृक्षाग्र सहित सूखे जंगल (या तृण) को जला डालती है।[26] राग से उत्पन्न दु:ख के बारे में बताते हुए अश्वघोष कहते हैं कि राग से उच्छृंखल मन के द्वारा धैर्य धारण करना दुष्कर है जिस प्रकार दूषित जल को भी देखकर प्यासा पथिक धैर्य नहीं धारण कर पाता है।[27] परन्तु संसार की कामोपभोगों से उसी प्रकार तृप्ति नहीं होती जैसे पवन प्रेरित अग्नि की हव्यों से तृप्ति नहीं होती।[28] इसी लिए कहा गया है कि अनित्य, चुराने योग्य, असार, विपत्तियों के कारण और बहुजन भोग्य काम (विषय) सर्पों के सदृश मार डालने योग्य हैं[29] तथा कुपित भयंकर सर्प सदृश उन विषयों से प्रेम नहीं करना चाहिए।[30]

दु:ख निरोध :-

अश्वघोष ने तृतीय आर्यसत्य ''दु:ख निरोध'' का सम्यक् विवेचन करने के लिए भी विविध उपमानों का सुन्दर नियोजन किया है। अश्वघोष का कहना है कि मनुष्य अपने अन्तर्निहित कामनाओं को उसी तरह नष्ट कर दे जैसे प्रकाश अन्धकार को नष्ट कर देता है।[31] काम भावनाओं का यदि कुछ भी अनुशय रह जाएगा तो वह शीघ्र ही प्रकट हो जाता है जैसे बीज से अँकुर उत्पन्न हो जाते हैं।[32] इसलिए कहा गया है कि महाभव रूपी काष्ठ के जाल को जलाने के लिए (अपने) तेज को प्रज्वलित करो जैसे महान् तृण राशि को जलाने के लिए थोड़ी-सी आग प्रज्वलित की जाती है।[33] चंचल, फलों की ओर से मन को उसी प्रकार रोकने के लिए कहा गया है जिस प्रकार शस्य की लालसा वाली गाय रोकी जाती है।[34] इस प्रकार इन कतिपय उपमानों के सुन्दर प्रयोग द्वारा बौद्धदर्शन के तृतीय आर्यसत्य का सम्यक्

24. सौन्दनन्द 9/48 25. वही, 10/52 26. वही, 10/53 27. वही, 10/27
28. वही, 5/23 29. वही, 15/8 30. बुद्धचरित 11/24 31. सौन्दरनन्द 15/4
32. वही 15/6 33. वही 5/30 34. वही, 9/42

निरूपण हुआ है।

महाकवि अश्वघोष ने सौन्दरनन्द के चतुर्दश सर्ग में "मध्यमा प्रतिपदा" के महत्त्व का निरूपण करते हुए लिखा है कि जैसे अत्यधिक भोजन करना अनर्थकारी है वैसे ही अत्यल्प भोजन भी शक्ति के लिए विनाशक है। इस तथ्य को पुष्ट करने के लिए अश्वघोष ने अनेक उपमानों की सुन्दर योजना कर दी है। उन्होंने कहा है कि जैसे अधिक भार से तुला नमित हो जाती है और लघु भार होने से उन्नमित होती है तथा यथोचित भार से समान भाव में रहती है, उसी प्रकार यह शरीर भी अधिक, अल्प एवं उचित आहार से भारी लघु और समान रहता है।[35] जिस प्रकार घायल व्यक्ति चिकित्सा के लिए घाव पर मरहम लगाता है, उसी प्रकार मुमुक्षु भूख मिटाने के लिए आहार का सेवन करता है।[36] जिस प्रकार भार को ढोने के लिए रथ के धुरे में चर्बी लगाई जाती है, उसी प्रकार बुद्धिमान् व्यक्ति जीवन-यात्रा के लिए भोजन का सेवन करता है।[37] इस प्रकार "मध्यम प्रतिपदा" के महत्त्व का निरूपण करते हुए भोजन की अनिवार्यता पर भी बल दिया है।

आर्य अष्टांगिक मार्ग का विवेचन करते हुए उपमानों का प्रयोग :-

आर्य अष्टांगिक मार्ग प्रज्ञा, शील, समाधि- इन त्रिस्कन्धों में अन्तर्भावित है। अश्वघोष ने इन तीनों स्कन्धों का महत्त्व निरूपित करते हुए विविध उपमानों की योजना कर पाठक को दार्शनिक तत्त्वों को हृदयंगम कराने का सफल प्रयास किया है। अश्वघोष के अनुसार संसार के अखिल श्रेयस्कर कर्मों का सम्पादन शील का आश्रय लेकर ही होता है जैसे पृथ्वी का आश्रय लेकर खड़ा होना आदि कार्य सिद्ध होते हैं।[38] शील के रहने से क्लेशांकुरों का प्रार्दुभाव उसी प्रकार नहीं होता है जैसे अकाल में बीजांकुर समुद्भूत नहीं होते।[39]

प्रज्ञा के विषय में अश्वघोष उपमान देते हुए कहते हैं कि प्रज्ञा क्लेशांकुरों को नि:शेष कर देती है जिस प्रकार प्रावृट्काल में नदी अपने प्रान्तवर्ती वृक्षों का उन्मूलन कर देती है। प्रज्ञा से दग्ध होकर दोष उसी प्रकार नहीं पनपते जैसे वज्राग्नि से दग्ध होकर वृक्ष।[40]

समाधि क्लेशों को उसी प्रकार रोकती है जिस प्रकार पर्वत नदियों के महावेग को रोकता है।[41] समाधिस्थ होने पर मन्त्रबद्ध सर्पों की भान्ति दोष आक्रमण करने में असमर्थ होते हैं।[42]

इस प्रकार अश्वघोष ने आर्य अष्टांगिक मार्ग के त्रिस्कन्धों को बड़ी ही मार्मिक शैली में उपमानों में निबद्ध करके प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है।

---

35. सौन्दरनन्द, 14/5
36. वही, 14/11
37. वही, 14/12
38. वही, 13/21
39. वही, 16/34
40. वही, 13/36
41. वही, 16/35
42. वही, 16/36

निर्वाण –

बौद्ध दर्शन का परम लक्ष्य निर्वाण प्राप्ति है। बौद्धदर्शन ग्रन्थों में निर्वाण के महत्त्व पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। अश्वघोष ने भी बौद्धधर्म के महनीय तत्त्व पर प्रकाश डालते हुए शोभनीय उपमान की योजना कर निर्वाण की परिभाषा इस प्रकार दी है :–

''जिस प्रकार निवृत्त दीपक न पृथ्वी पर रहता है, न अन्तरिक्ष में गमन करता है, न किसी दिशा या विदिशा में अपितु स्नेह के क्षय के कारण शान्ति को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार निर्वाण को प्राप्त हुआ पुण्यात्मा पुरुष पृथ्वी या अन्तरिक्ष में गमन नहीं करता, न दिशा में या विदिशा में अपितु क्लेशकार रागदोषों के क्षय हो जाने से शान्ति को प्राप्त कर जाता है।[43]

बौद्ध-धर्म में नारी के स्थान निर्धारण के लिए विविध उपमानों का प्रयोग :-

भारतीय संस्कृति, साहित्य एवं दर्शन के क्षेत्र में नारी का स्थान महत्त्वपूर्ण और विशिष्ट रहा है। भारतीय सभ्यता के आदिग्रन्थ ऋग्वेद में नारी का स्थान उत्कर्षमय रहा है। मन्त्रद्रष्टा मनीषियों ने प्राकृतिक रूपों में दैवीशक्ति का आरोप कर उसे सौन्दर्यभावना से समन्वित कर दिया है। परन्तु बौद्ध-दर्शन में नारी को आदर और श्रद्धा पुलकित नेत्रों से नहीं निहारा गया अपितु उसे सभी दोषों की जड़ बताया गया है।

अश्वघोष की दार्शनिक मेधा ने भी नारियों के अनवदात रूप का जो जुगुप्सापूर्ण चित्रण किया है वह दर्शनीय है जिसमें अश्वघोष ने विचित्र उपमानों की योजना करके नारी को हेयता की दृष्टि प्रदान की है। नारी के कालुष्यपूर्ण रूप का दिग्दर्शन कराते हुए अश्वघोष कहते हैं कि विष से संश्रित लता के स्पर्श करने से, सर्पयुक्त कन्दराओं को परिमृष्ट करने से तथा विवृत्त असि के धारण करने से जैसे आपत्ति होती है वैसे ही स्त्रियों का सम्पर्क भी दु:खपूर्ण होता है।[44] अश्वघोष के अनुसार प्रज्वलित अग्नि को पकड़ सकते हैं, शरीर रहित पवन तथा कुपित भुजग का ग्रहण सम्भव है किन्तु स्त्रियों के मन को पकड़ना कदापि सम्भव नहीं है।[45] पुरुष कितना भी स्त्रियों पर विश्वास करे, किन्तु वह हृदय से मित्रता स्थापित नहीं कर सकती। जिस प्रकार अपहृत गाय एक भूमि से दूसरी भूमि में जाकर भी चरती है, उसी प्रकार स्त्रियाँ भी सौहृदभाव को अनवेक्षित कर अन्यत्र जाकर दूसरे पुरुष के साथ रमणकेलि करती हैं।[46] स्त्रियाँ ग्राहपूर्ण सरिता के समान हैं, जो अविशेष रूप से प्रहार करती हैं।[47] वे बहुविध अनर्थों की जड़ होती हैं। इनका संसर्ग श्रेय-पद की प्राप्ति के लिए

43. सौन्दरनन्द, 16/28,29 44. वही, 8/31 45. वही, 8/36 46. वही, 8/41
47. वही, 8/37

उत्तम नहीं है। इस सन्दर्भ में अश्वघोष की निम्न पंक्तियाँ दर्शनीय हैं :- ''जैसे हाथ में रखी हुई उल्का पवनप्रेरित होकर (हाथ को) जलाती है, पादाक्रान्त हुआ सर्प क्रुद्ध होकर जैसे काटता है, गृहगत व्याघ्र शिशु होने पर भी जैसे मारता है, उसी प्रकार नारियों का संसर्ग भी बहुविध अनर्थों का कारण है''।[48]

इस प्रकार अश्वघोष ने नारी के स्वभाव की चंचलता एवं अपवित्रता को उपमानों की सुन्दर योजना द्वारा प्रकट किया है। स्त्रियों ने ऋष्यश्रृंग जैसे अनेकों धीमान् तथा इन्द्रिय-संयमित पुरुषों के हृदयों को मथकर उन्हें कामोपभोग के लिए प्रेरित किया है- इस तथ्य को प्रस्तुत करने के लिये भी अश्वघोष ने सुन्दर उपमान का प्रयोग किया है:- ''शान्तवन में रहते हुए भी मुनि ऋष्यश्रृंग राजकन्या शान्ता को देखकर उसी प्रकार अपना धैर्य खो बैठे, जिस प्रकार भूकम्प में उच्च शिखर वाला पर्वत प्रकम्पित हो उठता है''।[49]

इस प्रकार अश्वघोष के उपमानगर्भित उपर्युक्त निदर्शनों में बौद्ध-दर्शन सम्बन्धी तत्त्वों की सुन्दर छटा देखने को मिलती है, जिनमें चार आर्यसत्य, शील, प्रज्ञा, समाधि-त्रिस्कन्ध, निर्वाण तथा बौद्धदर्शन में नारी के स्थान पर पर्याप्त मात्रा में विवेचन उपलब्ध होता है और ये उपमानगर्भित दृष्टान्त अश्वघोष की काव्यप्रतिभा के द्योतक हैं। इस प्रकार के अन्य उपमान-युक्त उद्धरण दोनों महाकाव्यों में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं जिससे अश्वघोष के दार्शनिक ज्ञान एवं काव्य-प्रतिभा का स्पष्ट परिलक्षण होता है।

– प्राचार्य, एम.एम.डी.डी.ए.वी. महाविद्यालय, गिद्दड़बाहा (पंजाब) ।

48. सौन्दरनन्द, 8/61 49. वही, 7/34

वर्तमान युग में मानव-मूल्यों की प्रासंगिकता

–डॉ० किशनाराम बिश्नोई

सर्वप्रथम मूल्य शब्द के अर्थ को समझना आवश्यक है। मूल्य शब्द की संरचना संस्कृत के मूल धातु में 'यत्' प्रत्यय लगाने से बना है, जिसका अर्थ कीमत, मजदूरी आदि होता है। मूल्य शब्द को अंग्रेजी में "वैल्यू" शब्द का पर्यायवाची माना जाता है। वैल्यू शब्द लेटिन भाषा के 'वैलीरी' शब्द से बना है जिसका अर्थ अच्छा या सुन्दर होता है। इसे शारीरिक शक्ति को आनंदित करने के अर्थ में भी ग्रहण किया गया है।

मानवीय व्यवहार में मूल्य शब्द सहज जीवन, शुद्ध आचरण, आत्मसंयम, इंद्रियनिग्रह, आत्मशुद्धि के अर्थ में प्रयोग हुआ है। शील, संतोष, सत्य, प्रेम, अहिंसा, नैतिकता, लोकमंगल और लोक-कल्याण की भावना भी मानवीय गुणों से ही सन्निहित है। जो कि मानवीय आवश्यकता की इच्छा की संतुष्टि के लिए प्रयोग में आता है। मूल्य शब्द का सम्बन्ध न केवल आध्यात्मिकता से है बल्कि सत्य, अहिंसा, शुद्धता, अच्छाई एवं सौन्दर्य से भी है।

हमारे धर्मग्रंथों में मानव-मूल्यों को जिस प्रकार का सामाजिक धरातल प्रदान किया गया और मानव में आध्यात्मिक मूल्यों की प्राप्ति को प्रेरणा दी गई, वह मनुष्य में पूर्णता प्राप्ति की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। प्राचीन भारतीय वाङ्मय में मानवीय भावना को आध्यात्मिक मूल्यों से ओत:-प्रोत माना है। हमारे सभी धार्मिक ग्रंथों में उपदेश और संदेश में शुभत्व की मानवीय भावना अन्तर्निहित है। हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों ने गहन तपस्या व स्वाध्याय करके एक ऐसी विचारधारा व चिंतन को नया दृष्टिकोण दिया, जिसमें आदर्शवादी दृष्टिकोण को आचरण के क्षेत्र में क्रियान्वयन किया जा सके। जो व्यवहार और आचरण में सहयोगी हो।

वर्तमान युग में ईमानदारी, सच्चाई, सहृदयता, सहजता, सहिष्णुता, कर्मठता, न्यायशीलता, शालीनता, मर्यादा, आदर्श, प्रतिमान, चरित्र-निर्माण, नैतिक नियम, शुद्ध आचार-विचार, पवित्र संस्कार, धार्मिक विश्वास व धारणाएं, मानसिक और बौद्धिक विचारों में पवित्रता, रहन-सहन, खान-पान, रीति-रिवाज, जो परम्पराओं से हमें ये मानवमूल्य प्राप्त हुए हैं इन मानवीय मूल्यों को

समाज व सरकारी सेवा, संगठन, सत्ता और प्रबंधन में इस प्रकार प्रयोग करना है ताकि वे नीति-निर्धारण में सहयोगी बन सकें। ये मानव-मूल्य हमारी शिक्षा-नीति के प्रमुख आयाम होने चाहियें जो मानव व परिवार में समन्वय, समाज में एकता, सरकारी सेवा में नयी दिशाएं, नवीन मूल्य व नई नीति तय कर सकें। इन संकल्पों से सरकारी-व्यवस्था और आमजन में एक नयी उदात्तवादी भावना को विकसित किया जा सकता है। यदि इन मूल्यों का सार्वजनिक जीवन में अवमूल्यन होता है तो परिणामस्वरूप सरकारी-संगठन सेवा तथा प्रबंधन-व्यवस्था में असन्तुलन उत्पन्न होना स्वाभाविक है जिसके कारण भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी, अराजकता, अव्यवस्था, अनाचार, वैमनस्य, घृणा, द्वेष, अनैतिकता, श्रमशोषण, भ्रूणहत्या, आत्महत्या, मानसिक कुंठा, क्रोध, अहंकार, स्वार्थ, नारी अपमान, परपीड़ा, अलगाववाद, आतंकवाद, क्षेत्रवाद, भाषावाद, जातिवाद आदि की घटनाओं को बढ़ावा मिलता है। जिसके कारण भारतीय जनमानस अत्यन्त प्रभावित हुआ है। परिणामस्वरूप मानव हृदयहीन और मूकदर्शक हो गया है। ऐसी मानसिकता हमारे समाज को जंगली-सभ्यता का जामा पहनाती चली जा रही है। यही कारण है कि आज शिक्षित व्यक्ति भी इस ओर ध्यान न देकर आधुनिक विचाराधारा में प्रवाहित हो रहे हैं।

व्यक्ति की जीवन-पद्धति, आचरण, स्वभाव, गुणकर्म, अनुभवजन्य विकसित मूल प्रवृत्तियाँ, चारित्रिक गुणदोष, व्यक्तियों के प्रति व्यवहार, उनके प्रति किया गया क्रिया-कलाप, अंग-प्रत्यंगों की पूर्णता, रूप सौन्दर्य, ऐन्द्रिक क्षमताएं, स्मरणशक्ति, कल्पनाशक्ति, ज्ञान, तर्क-वितर्क, चिंतन शक्ति, बौद्धिक और भावनात्मक प्रवृत्तियाँ मनुष्य के आन्तरिक जीवन के प्रकाशक हैं। ऐसे मानवीय मूल्यों के आधार पर ही सामाजिक संरचना का निर्माण होता है। जैसी सामाजिक व मानवीय संरचना होती है वैसा ही समाज, साहित्य और दर्शन का ढांचा निर्मित होता है। मानव-मूल्यों से युक्त व्यक्तित्व ऐसी अमर निधि है जिसकी सुन्दरता स्वयमेव व्यक्ति के सीमित, असुन्दर व छोटे स्वरूप को असीम, सुन्दरतम और महिमामय बनाकर उसको समाज के समक्ष प्रस्तुत करती है। इसके कारण जीवन सुन्दर होकर स्वर्णिमता का रूप धारण कर लेता है। यह जीवन का सर्वोत्तम सार है। इससे मनुष्य अपने जीवन का उद्देश्य प्राप्त कर लेता है। फलतः उसको यश, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

जैन-धर्म के पांच महाव्रत, महात्मा बुद्ध के अष्टांगिक मार्ग, वैदिक-धर्म के दस नियम व गुरु जम्भेश्वर जी के उन्नतीस धर्म-नियमों में ऐसे मानवीय मूल्यों की प्रेरणा दी गई है

जिसका आचरण में क्रियान्वयन करने से मानव का जीवन सुसंस्कृत एवं कल्याणकारी बन सकता है। ये नियम मानवोचित और लोकमंगल से युक्त हैं। जिनका मूल आधार शुद्ध आचरण, आत्म-परिष्कार और आत्मशुद्धि है। इन मूल्यों से समस्त मानसिक व शारीरिक चित्तवृत्तियों को अहंकार रहित होकर जीवन-जीना इस आचारसंहिता का अभीष्ट गुण है। परोपकार, त्याग, कल्याण और मानवतावाद से ओत:-प्रोत इन नियमों में विश्व के सभी धर्मों, दर्शनों की मूल मान्यताओं तथा सिद्धान्तों का समावेश है। जिसमें भारतीय वाङ्मय में मानवीय मूल्यों की पूर्वपीठिका में वेदों, उपनिषदों, गीता, पुराणों, रामायण, रामचरितमानस, बौद्ध-धर्म, जैन-धर्म, स्मृतियाँ, दर्शन, नीतिशास्त्र आदि धार्मिक ग्रंथों का अहम स्थान है। भारतीय धर्म-परम्परा व साधना उत्तरोत्तर प्रगति के साथ अग्रसर हुई है। इनका प्रभाव अठारवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दी के विचारकों तथा मनीषियों पर पड़ा है। पांच हजार वर्ष पुरानी सभ्यता तथा संस्कृति में सनातन ज्ञान से हट कर जो भी परम्पराएं आयी हैं उन्होंने मानवीय भावनाओं तथा मूल्यों को प्रभावित किया।

आज हम प्रजातंत्र व्यवस्था तथा राजनीति के जिस मुकाम पर पहुंचे हैं वहाँ कितने खतरे उत्पन्न हो गये हैं यह किसी से छिपा नहीं है। आज सर्वत्र राजनैतिक संघर्ष दिखाई देते हैं। जन-सामान्य छोटी-छोटी बातों पर संघर्ष करता दिखाई देता है। उनके आक्रोश का विस्फोट जिस आश्चर्यजनक ढंग से होता है उसके मूल में जो कारण रेखांकित किये जाते हैं उसकी पृष्ठभूमि जानने और उसकी पड़ताल करने की एक सार्थक कोशिश जरूरी है। तनिक आक्रोश से कितनी क्षति होती है, इस ओर ध्यान देना जरूरी है। देखना है कि- समाज तथा सामाजिक संगठन क्या अपना उत्तरदायित्व निभा रहे हैं। प्रत्येक व्यक्ति दूसरे पर दोष मढता है। कोई हम पर दोष मढता है। यह दोषारोपण बढ़ता बढ़ता उच्च से उच्च पद तक पहुँचता है। पर क्या कभी विचार किया गया कि जो जहाँ है, वह भी समाज का ही एक अंग है। प्रत्येक व्यक्ति समाज का अंग है। व्यक्ति का समूह ही समाज है यदि व्यक्ति निर्दोष निरीह या कर्त्तव्य-परायण होगा तो समाज स्वत: ही उन गुणों से युक्त होगा। अत: प्रत्येक व्यक्ति को यह सोचना चाहिए कि मैं कहां हूँ, मेरा क्या कर्त्तव्य है। ऐसा होने पर समाज में सब कुछ स्वत: ठीक हो जयेगा। अत: आज जो भी सामाजिक संगठन है, शासन व प्रबन्ध की व्यवस्था है उस में आध्यात्मिकता के पावन संस्कारों का होना आवश्यक है जिससे कार्य के प्रति आशावादिता, सृजनात्मकता, सौन्दर्य और विशिष्टता, विनोदपूर्ण स्वभाव, प्रज्ञा की

सृजनात्मकता, नवीन को जानने की जिज्ञासा, उन्मुक्त विचार प्रकट करने की प्रवृत्ति सीखने की जिज्ञासा, परिस्थिति अनुकूल व्यापक दृष्टिकोण, कार्य को जीवन की दिनचर्या में शामिल करना, क्षमाशीलता की भावना को सामूहिक कार्यशीलता में क्रियान्वित करना, कार्यदल में नेतृत्व क्षमता व दक्षता लाना, विवेकशील-श्रमनिष्ठता की भावना को जीवन में लाना और दूसरों को ऐसा करने के लिए प्रेरित करना, स्वव्यवस्था में अपने-आपको कार्य के अनुकूल ढालने की क्षमता विकसित करना आदि है जो हमारे जीवन-मूल सिद्धान्त हैं।

हम यह दृढ़ निर्णय करें कि मानव-समाज में ऐसी व्यवस्था को अपनाना पड़ेगा जो शिक्षा में संस्कारों और मानव-मूल्यों को समाविष्ट कर सके। हम आर्थिक उदारीकरण, आरक्षण, गरीबी उन्मूलन, रोजगार-वितरण, मुक्त अनाज बांटकर या साक्षरता का नारा देकर सामाजिक व्यवस्था को बदल नहीं सकते हैं। सत्ता और सम्पन्नता की दौड़ में निरन्तर भाग लेने वाले लोग शायद ऐसा ही मान रहे हैं। लेकिन प्राय वे भूल जाते हैं कि हर अच्छे-बुरे कार्य के पीछे मनुष्य की मानसिकता है। जब तक निरन्तर वृद्धिगामी विकृतियों को रोका नहीं जा सकता तब तक हमारी मानसिकता को उन्नयन की दिशा नहीं मिल सकती है।

आज हमारे पास केवल एक ही मार्ग शेष है, जो सार्थक सिद्ध हो सकता है वह है शिक्षा में सम्यक् जीवन-मूल्यों का समायोजन। समाज को बदलने में जो भूमिका हमारे जीवन-मूल्य निभा सकते हैं वह अन्य कोई शक्ति नहीं निभा सकती। हमें अपनी समस्त शिक्षापद्धति को जीवनमूल्यों से जोड़ना होगा। इसका प्रभाव प्रत्यक्षरूप से मानवीय मूल्यों से अनुप्रेरित है। मानवीय मूल्यों का अवमूल्यन या उनका स्वरूप विकृत होने के साथ मानव-जीवन के सभी आयामों, पद्धतियों के साथ-साथ शिक्षा, साहित्य, इतिहास, दर्शन, परम्पराएं, ज्ञान-विज्ञान, राजनीति, सामाजिक संरचना, सांस्कृतिक, परिवेश, आर्थिक परिवर्तन और सम्पूर्ण जीवन-व्यवहार से संबंधित सभी पहलु प्रभावित होते हैं। एक समय था जब धर्म और साहित्य मिलकर मूल्यपरक स्वस्थ मानसिकता की रचना करते थे। अब यह स्थिति नहीं रही। अब विभिन्न धर्मों का पारस्परिक संघर्ष प्रत्येक देश में बढ़ रहा है। इसके पीछे धार्मिक कट्टरता, मजहबी उन्माद, धर्म और राजनीति का परस्पर द्वन्द्व, आदि ऐसे अनेक कारण हैं जो सर्वधर्म-समभाव की भावना स्थापित नहीं होने दे रहे हैं। सर्वधर्म-समभाव व विश्वबंधुत्व की भावना के अभाव में स्वस्थ मानसिकता पर आधारित धार्मिक विचारधारा का आदान-प्रदान निरन्तर अवरुद्ध होता जा रहा है। ईश्वर और धर्मग्रंथों का स्थान विकृत अहंकार ने ले

लिया है। विकृत धार्मिक मानिसकता के प्रभाव से मानवमूल्यों में लगातार गिरावट आ रही है। पुरातन साहित्य और संस्कृति भी अब मूल्यपरक सच्ची धार्मिक व सामाजिक मानसिकता के निर्माण और विकास में उतना योगदान नहीं दे पा रही है जितना उसने अतीत में दिया था।

मानव-मूल्यों से प्रेरित रचनाएं वैयक्तिक लिप्साओं के घेरे में आ चुकी हैं। अधिकांश लेखक, कवि और साहित्यकार, भाषा-शिल्प के चमत्कारों की सीढ़ियों से चढ़कर उपलब्धियों के शिखर पर पहुंचना चाहते हैं या रूढ़ पाश्चात्य विचारधाराओं एवं सिद्धान्तों का अंधाधुंध प्रचार और अनुवाद करके प्रसिद्ध होना चाहते हैं। इसलिए यदि देश की मानसिकता को स्वस्थ, पवित्र और संस्कारों से युक्त बनाना है तो मूल्यपरक शिक्षा की भूमिका को अपनाना होगा। अत: यह बात स्वत: समझनी होगी कि अब धर्म, संस्कृति और साहित्य, तकनीकी ज्ञान, प्रबंधन, सत्ता और संगठन के वर्तमान स्वरूप से सन्तुष्ट न होकर नये सिरे से उनमें परिवर्तन लाना होगा। किन्तु यह कार्य भी मूल्यपरक शिक्षा पर निर्भर है।

–विभागाध्यक्ष गुरु जम्भेश्वर धार्मिक अध्ययन संस्थान,
गुरु जम्भेश्वर विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय,
हिसार-125001 (हरियाणा)

गुरु नानकदेव जी का ईश्वरीय चिन्तन एवं औपनिषदिक पृष्ठभूमि

– प्रो. सविता सचदेवा

ऋषि–महर्षियों की परमपवित्र तप:स्थली भरतभूमि पर सदैव संत महात्माओं एवं धर्माचार्यों महापुरुषों का अवतरण होता रहा है। समाज के विभिन्न क्षेत्रों के कल्याण एवं विकास के लिये महान् सन्तों की वाणी से ऐसे उपदेश नि:सृत होते रहे हैं जिनसे भारतीय धर्म-संस्कृति, दर्शन, समाज सदैव उपकृत होता रहा है। गुरु नानक देव जी की वाणी एक ऐसे जीवनदर्शन को प्रस्तुत करती है जो जीवन में प्राप्त अनुभवों पर आधारित थी। गुरु नानक देव जी निर्गुण सन्त कवियों में शिरोमणि सच्चे भक्तकवि थे, निर्गुण ब्रह्म के उपासक थे। इनका जन्म उस समय हुआ जब चारों और पाप और जुल्म हो रहे थे। असत्य, भ्रमों और पाखण्डों ने सत्यरूपी चन्द्रमा को ढांप लिया था। इनके आने पर संसार में अज्ञान की धुंध छट गई और ज्ञानरूपी रोशनी फैल गई। भाई गुरुदास ने कहा है कि – गुरु नानक देव जी के आगमन से संसार में अज्ञानरूपी अन्धेरा दूर हो गया और ज्ञान का प्रकाश प्रस्फुटित हुआ। गुरु जी के अनुसार परमेश्वर एक है और वह ही सत्य है, वह ओंकार रूप है किसी से वैर नहीं करता। जपुजी साहिब के आरम्भ में ही मूलमन्त्र दिया है –

१ओं सतिनाम करतापुरखु निरभउ निरवैरु।
अकाल मूरति अजूनी सैभं गुरु प्रसादि।।[1]

एक ओंकार अर्थात् 'एक अकाल पुरुष जो निरन्तर व्यापक है'। परमात्मा निराकार है इसे शब्द (नाम) द्वारा ही प्रकट किया जा सकता है। गुरु नानक देव जी एकेश्वरवादी थे।

उपनिषदों में भी ईश्वर के स्वरूप का वर्णन इस प्रकार किया गया है कि एक ही परमेश्वर सब प्राणियों में छिपा हुआ, सर्वव्यापी, सभी प्राणियों की अन्तरात्मा तथा सब के कर्मों का अधिष्ठाता सबको चेतना देने वाला चेतन स्वरूप सर्वथा विशुद्ध तथा निर्गुण है।[2] कठोपनिषद् में भी कहा है कि परमात्मा एक होते हुये अनेक रूपों में बाहर भीतर प्रकाशित हो रहा है।[3] अन्य उपनिषदों में भी परमात्मा सर्वत्र को व्याप्त बताया गया है।

गुरु नानक देव जी परमात्मा को सत्य,

1. जपुजी साहिब 2. श्वेताश्वतरोपनिषद्, 6/11. 3. कठ.उप. 2/2/9

नित्य एवं दिव्य मानते थे। मूलमन्त्र के 'सतिनाम' का यही भाव है कि अन्तिम सत्ता ईश्वर है सच्चाई उसका स्वरूप है। वह भूत, भविष्य एवं वर्तमान तीनों कालों में सत्य है। गुरु जी ने कहा है कि जिस अकाल पुरुष ने इस सृष्टि की रचना की है वह सृष्टि से पहले भी था वर्तमान में भी, भविष्य में भी रहेगा। उसका कभी जन्म नहीं होता न ही उसकी मृत्यु होती है। वह शाश्वत है, सच्चा स्वामी है, उसकी कीर्ति नित्य एवं स्थायी है।[4]

बृहदारण्यक उपनिषद् में भी ईश्वर को ब्रह्म कहा है और ब्रह्म को सत् माना है। ऋग्वेद में भी कहा है कि ईश्वर का न जन्म होता है न मृत्यु होती है न वह पीड़ित होता है, न वह हिंसा करता है।[5] वृद्धावस्था और मरणावस्था से रहित है। परमात्मा सत्चितानन्द, नित्य गुण-कर्म वाला है।

करता पुरष -

परमात्मा सब कुछ करने वाला है। सब कुछ परमात्मा के हुकम से होता है।[6] वही संसार का रचयिता है पोषण करने वाला है, वही हर्ता है। गुरु साहिब अन्तिम वास्तविकता को एक पुरुष के रूप में स्वीकारते हैं। पुरुष का अर्थ है वह ओंकार, जो जगत् में व्यापक है, वह आत्मा जो सब सृष्टि में समा रहा है।

पुरखु-

संस्कृत भाषा में इस की व्युत्पत्ति है 'पुरि शेते इति' अर्थात् जो पुरष शरीर में शयन कर रहा है।

गुरु साहिब परमात्मा के विषय में कहते हैं कि परमात्मा की आज्ञा से ही मनुष्य श्रेष्ठ होता है, निकृष्ट होता है। पुरुष अपने किये हुये कर्मों के अनुसार सुख और दुःख प्राप्त करता है तथा जन्म-मरण के बन्धन में घूमता है।[7] ईश्वर को प्राप्त करने के लिये मनुष्य को इधर उधर भटकने की आवश्यकता नहीं उसे तो अपने हृदय में ही खोजा जा सकता है। पुण्डकोपनिषद् में भी ईश्वर की सर्वव्यापकता बताते कहा गया है कि- वह परमात्मा न तो नेत्रों से, न वाणी से और न ही दूसरी इन्द्रियों से ही ग्रहण करने योग्य है, न वह तप से न कर्मों से ग्रहण किया जाता है। वह निराकार परमात्मा तो विशुद्ध अन्तःकरण में ध्यान करते हुए निर्मलता से देखा जा सकता है।[8]

कठोपनिषद् में भी ईश्वर को नित्यों मे नित्य, चेतनों में चेतन और अकेला ही सब जीवों को उनके कर्मों के अनुसार भोग प्रदान करने वाला कहा गया है।[9]

गुरु नानक देव जी के अनुसार ईश्वर भय से परे है, उसकी शक्ति का कोई पार नहीं। परमात्मा यदि भय रहित है तो वह भय कैसे उत्पन्न कर सकता है वह प्रेम स्वरूप है निरभऊ बन कर वह सब जीवों को अपनी ओर

4. जपुजी साहिब 27 5. ऋग्वेद,5/54/7 6. जपुजी साहिब, 2
7. वही, 2 8. मुण्डक 3. 1. 8
9. नित्यो नित्यानाम् चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्। अध्याय 2 वल्ली 2 श्लोक 13

खींचता है और मुक्ति प्रदान करता है। परमात्मा न ही किसी से वैर रखता है, वह सर्वसम्पन्न है, वह कृपालु तथा दयालु है। गुरुसाहब खुदा को अकाल कहते हैं क्योंकि वह तीनों कालों से अतीत है वह काल के बन्धन में नहीं आता वह काल से बाहर आदिपुरुष है। वे परमात्मा को अद्वैत रूप मान कर उसे ज्योतिस्वरूप, सत्य स्वरूप, प्रेमस्वरूप कहते हैं।

जीवन में सुख-दुःख, लोभ, मोह, निन्दास्तुति, आशा-निराशा, मान-अपमान आदि भौतिक द्वन्द्व ही मानव के लिये प्रभु की प्राप्ति के मार्ग में बाधक हैं। इन द्वन्द्वों से निर्मुक्त हृदय ब्रह्म के प्रकाश से सदा प्रकाशमान रहता है।[10]

गुरु नानक देव जी ने जगरचना को मृगतृष्णा बताते हुये मानव के उद्धार के लिये प्रभु की प्राप्ति के निमित्त ईश्वर उपासना एवं स्मरण पर विशेष बल दिया है।[11] गुरु जी के अनुसार नाम-श्रवण के फलस्वरूप चित्त की वृत्तियाँ स्थिरता प्राप्त करके शान्त हो जाती हैं और भक्त के हृदय में निरन्तर आनन्द का विकास होता है।

गुरुजी के अनुसार परमात्मा का तो जन्म नहीं होता इसलिये वह अजूनी हैं। गुरु जी का कहना है कि- वह स्वयंभू है, अपने आप में पैदा होने वाली सत्ता है स्वयं ही वह अस्तित्त्व धारण करता है। परमात्मा अमूल्य है वह अनुमान अतीत है।[12]

उपनिषदों के अनुसार परमात्मा स्थूल सूक्ष्म और कारण शरीर से रहित, छिद्र रहित और छेदन करने योग्य नाड़ी आदि के साथ सम्बन्ध रूप बन्धन से रहित सदा पवित्र है, वह सर्वज्ञ है। सब जीवों की मनोवृत्तियों को जानने वाला है।[13] सारे विश्व में समाया हुआ है फिर भी उसकी सीमाओं से परे है।[14]

उपनिषदों के अनुसार और मूल मन्त्र के अनुसार परमात्मा एक है और वह ही जगत् का कारण,अव्यक्त,नित्य,सत्-असत् और अन्तिम सत्य है।

– वरिष्ठ प्रवक्ता, संस्कृत विभाग,
स्वरुप रानी सरकारी कालेज (स्त्रियाँ),
अमृतसर।

10. सोरठी मोहल्ला 9 11. जपुजी साहिब. 10. 12. जपुजी साहिब. 26
13. ईशोपनिषद् मन्त्र 8. 14. श्वेताश्वतरोपनिषद् 3/6.

बृहत्त्रयी में नैषधीयचरित का महत्त्व

– श्री प्रदीप कुमार पेटवाल

संस्कृत वाङ्मय में नैषधीयचरित महाकाव्य का सर्वोच्च स्थान है। यद्यपि संस्कृत साहित्य का भण्डार अपरिमित है, तथापि पठनीयता की दृष्टि से बृहत्त्रयी, लघुत्रयी तथा पंचमहाकाव्यों का विशेष महत्त्व है। इन ग्रन्थों का वर्ण्य-विषय सहृदय पाठकों के मन को मोह लेता है। बृहत्त्रयी के अन्तर्गत किरातार्जुनीय, शिशुपालवध तथा नैषधीयचरित महाकाव्य आते हैं। इन्हीं तीन महाकाव्यों में यदि कविकुलगुरु कालिदासकृत 'कुमारसम्भव' तथा 'रघुवंश' महाकाव्यों को सम्मिलित किया जाय तो यही पंचमहाकाव्य कहलाते हैं। बृहत्त्रयी में रचनाधर्मिता, लोकोत्तरचमत्कारिकता, रसपेशलता, भावों की भव्यता, आलङ्कारिकता, पदलालित्य तथा ध्वन्यात्मकता की दृष्टि से नैषधीयचरित महाकाव्य सभी में श्रेष्ठ माना गया है। 'पंचमहाकाव्य' के रचनाकारों के विषय में यह उक्ति बहुप्रचलित है–

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
नैषधे पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयोगुणः।।[1]

यद्यपि इस उक्ति के अनुसार नैषधीयचरित में पद-लालित्य होने पर भी माघ में तीनों गुणों को बतलाकर उनकी श्रेष्ठता सिद्ध की गई हो, किन्तु इसके अतिरिक्त एक और उक्ति काव्य-जगत् में प्रचलित है जिसके अनुसार –

भारवि का यश तभी तक शोभित होता है जब तक माघ का उदय नहीं हुआ किन्तु नैषधरूपी भानु के उदय होने पर कहाँ भारवि और कहाँ माघ[2]? इस उक्ति का निदर्शन पाठक को नैषधीयचरित के मङ्गलाचरण में ही हो जाता है, जिसमें महाराजा नल एवं उनकी कीर्ति को सूर्य के सदृश महिमावान् बतलाया गया है। वहां कहा गया है–

राजा नल की कथा को सुनकर विद्वान् अमृत का भी वैसा आदर नहीं करते हैं, महाराजा नल कीर्तिमण्डल को श्वेतछत्र बनाने वाले तेजों के राशिस्वरूप अर्थात् सूर्य के समान, उत्सवों से उज्ज्वल हैं[3]।

श्रीहर्ष के जन्मकाल की तिथि आदि का उल्लेख तो इनकी उपलब्ध कृतियों में नहीं है, किन्तु अपने माता-पिता का नाम इन्होंने प्रत्येक सर्ग के अन्त में उद्धृत किया है। साथ ही इन्होंने यह भी उल्लिखित किया है कि चिन्तामणिमन्त्र की गहन उपासना के फलस्वरूप इन्हें विलक्षण कवित्व शक्ति की प्राप्ति हुई[4]।

1. जनविश्रुत उक्ति. 2. जनविश्रुत उक्ति. 3. नैषधीयचरित मङ्गलाचरण प्रथम पद्य. 4. तत्रैव 1.45.

महाकवि श्रीहर्ष कान्यकुब्जेश्वर तथा वाराणसी नरेश विजयचन्द्र और जयचन्द्र के सभा पण्डित थे। वे नित्य कान्यकुब्जेश्वर से पान के दो बीड़े और आसन ग्रहण करते थे। इसके अतिरिक्त ध्यानावस्था में वे परं ब्रह्म का साक्षात्कार करते थे। उनकी कृति मधु की वर्षा करने वाली तथा तर्कों में उनकी उक्तियाँ शत्रूओं का मान-मर्दन करने वाली हैं। यह बात उन्होंने स्वयं महाकाव्य के अन्तिम पद्य में बड़े ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत की है, द्रष्टव्य है –

ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरा-
द्यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परं ब्रह्म प्रमोदाऽर्णवम्।
यत्काव्यं मधुवर्षि, धर्षितपरास्तर्केषु यस्योक्तयः
श्री श्रीहर्षकवेः कृतिः कृतिमुदे तस्याऽभ्युम्दीयादियम्।।[5]

इस पद्य के अनुशीलन तथा काशी नरेश जयचन्द्र तथा विजयचन्द्र के समय को यदि आधार माना जाय तो इनका समय विक्रमी सम्वत् की ग्यारवीं शताब्दी निश्चित होता है।

नैषधीयचरित महाकाव्य बृहत्त्रयी में सबसे विशाल महाकाव्य है। इसमें कुल बाईस सर्ग हैं। इसका सत्रवाँ सर्ग सबसे बड़ा है जिसमें श्लोकों की संख्या दो सौ बाईस है। मात्र तीन सर्गों तेरहवाँ, पन्द्रवाँ तथा उन्नीसवें सर्ग को छोड़कर शेष सभी सर्गों की श्लोक संख्या शताधिक है। सम्पूर्ण महाकाव्य में कुल श्लोकों की संख्या दो हजार आठ सौ अट्ठाइस है। लोकविश्रुत है कि महाकवि ने इस महाकाव्य की रचना अपने आश्रयदाता महाराज जयचन्द्र के आदेशानुसार की थी। इस महाकाव्य में कवि ने कुल उन्नीस छन्दों का प्रयोग किया है, जिनमें प्रमुख रूप से वंशस्थ, उपजाति, बसन्ततिलका, द्रुतविलम्बित, शार्दूलविक्रिडित, शिखरिणी, स्रग्धरा, रथोद्धता, स्वागता तथा अनुष्टुप् आदि मुख्य हैं। इस महाकाव्य पर अब तक कुल तेईस टीकायें लिखीं गई हैं। इनमें सबसे प्राचीन टीका मल्लिनाथकृत 'जीवातु' है। इसके अतिरिक्त नारायण पण्डित की 'प्रकाश' टीका, जीवानन्द विद्यासागर, महामहोपाध्याय हरिदास सिद्धान्तवागीस की टीकायें प्रसिद्ध हैं।[6]

काव्यशास्त्र की दृष्टि से यह कृति महाकाव्य के सभी लक्षणों से युक्त है। काव्यशास्त्रियों द्वारा उपस्थापित सभी प्रतिमानों एवं उपादानों का समावेश इसमें बखूबी किया गया है। कविराज विश्वनाथ के अनुसार प्रणीत महाकाव्य का लक्षण इस कृति में सहज रूप से घटित होता है।[7]

नैषधीयचरित की कथा का आधार महाभारत के वनपर्व का नलोपाख्यान है। कहा जाता है कि पहले इसमें साठ सर्ग थे किन्तु वर्तमान में मात्र बाईस सर्ग ही उपलब्ध हैं। वैसे तो यह ग्रन्थ काव्यशास्त्र के प्रत्येक विषय से पूर्ण है किन्तु आलङ्कारिकों के नियम का अतिक्रमण कवि ने खूब किया है। उनकी विलक्षण कल्पनाशक्ति ने काव्यत्व ने नये प्रतिमान स्थापित किये हैं। उन्होंने अलङ्कार

5. नैषधीयचरीत, 22.153 6. शेषराज शर्मा 'रेग्मी' कृत चन्द्रकला टीका की भूमिका से साभार।
7. साहित्यदर्पण

के प्रयोग में दर्शनशास्त्र तथा व्याकरण से उदाहरण देकर एक विलक्षण दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। नल की सज्जनता तथा साधुता का वर्णन करते हुए उन्होंने व्याकरणशास्त्र का पाण्डित्यपूर्ण प्रदर्शन किया है[8]।

इस महाकाव्य के रसास्वादन के लिए कठिन अभ्यास तथा प्रखर बुद्धि अपेक्षित है। किंवदन्ती है कि- असाधारण वैदुष्यता के कारण जब इनकी रचना अत्यधिक कठिन हो गयी तब अपनी कृति को सुबोध बनाने के लिए इन्होंने आधी रात के समय अपने मस्तक पर जल डालकर दही का सेवन किया, तब जाकर कफ की प्रचुरता के कारण बुद्धि कुछ शिथिल हुई। तत्पश्चात् इनका काव्य समझने में लोग समर्थ हुए। महाराज भीम की राजधानी का श्लिष्ट वर्णन कवि ने कितने सुन्दर ढंग से किया है[9]।

श्रीहर्ष ने करुण रस का बहुत ही मार्मिक चित्रण प्रथम सर्ग में किया है, ऐसा पद्य 'भवभूति' कृत करुणरस प्रधान 'उत्तर-रामचरित' के अतिरिक्त अन्यत्र सुलभ नहीं है। कवि ने हंस के मुख से कैसा मनोहारी वर्णन किया है, द्रष्टव्य है-

मदेकपुत्रा जननी जरातुरा,
नवाप्रसूतिर्वरटातपस्विनी।
गतिस्तयोरेष जनस्तमर्दयन्नहो! विधे!
त्वां करुणारुणद्धि नो।।[10]

दमयन्ती की रूपराशि का वर्णन यद्यपि कवि ने विस्तारपूर्वक किया ही है किन्तु सप्तम सर्ग में एक दमयन्ती को देखने से अनेक अप्सराओं को देखने का कौतुकपूर्ण वर्णन कवि की प्रखर बुद्धि तथा परिमार्जित लेखनी का परिणाम ही कहा जा सकता है।[11]

इन सभी वस्तुओं को ध्यान में रखते हुए संस्कृत वाङ्मय में श्रीहर्ष का स्थान सर्वोपरि है। संस्कृतभाषा पर उनका असाधारण अधिकार दृष्टिगोचर होता है। काव्यशास्त्रीय दृष्टि से उन्होंने गुण, अलङ्कार, तथा रीति का अनुपम प्रयोग प्रस्तुत किया है। अलङ्कारों में अतिशयोक्ति, अर्थान्तरन्यास, उपमा, अपह्नुति, व्यतिरेक, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि का सुन्दर निरूपण किया है। कवि ने बड़ी ही चतुराई से प्रसाद गुण तथा वैदर्भी रीति के साथ-साथ ओज, माधुर्य तथा पांचाली रीति का भी सुन्दर परिपाक किया है। अतः नैषध के विषय में यह जनश्रुति सर्वथा उपयुक्त है- ''नैषधं विद्वदौषधम्''।[12]

-शोध-छात्र, सांईनाथ यूनिवर्सिटी, राँची, (झारखण्ड)

---

8. नैषधचरित तथैव 3.23 9. तथैव 2.98. 10. तथैव 1.135. 11. तथैव 7.92
12. लोकविश्रुत उक्ति

रस-विवेचन एवं भक्तिरस का दार्शनिक आधार

– सुश्री बीनाकुमारी यादव

रस संज्ञा की दार्शनिक पृष्ठभूमि -

काव्यजन्य अनुभूति के एक विशेष प्रकार को 'रससंज्ञा' कहा गया है। वैदिक संहिताओं में 'रस' शब्द का प्रयोग सुरा[1] षड्स[2] तथा आनन्द[3] के लिए हुआ है। यजुर्वेद में रस शब्द वसंत आदि छः ऋतुओं का बोधक है[4] तथा अथर्ववेद में रस के दधि, घृत, मधु आदि अर्थ लिए गए हैं।[5] दर्शन-ग्रंथों में यदि उपनिषदों को ही सर्वप्रथम लें तो यहाँ भी रस के विविध अर्थों में प्रयोग उपलब्ध होते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् में जगत् के मूलभूत तत्व रस को आनन्द की अनुभूति का एकमात्र स्रोत बताया गया है।[6] बृहदारण्यकोपनिषद् में प्राण को अंगों का रस अर्थात् सारभूत-तत्व स्वीकार किया गया है।[7] रसनेन्द्रिय से ग्राह्य मधुरादि रसों के अतिरिक्त आस्वाद्य अर्थ में रस का प्रयोग बृहदारण्यक[8], गोपालोपनिषद्[9] एवं प्रश्नोपनिषद्[10] में हुआ है। कठ[11], प्रश्न[12], मुण्डक[13], आदि उपनिषदों में पूर्वोक्त अर्थ मिलते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में अनेकशः प्रयुक्त रस[14] शब्द उन्हीं अर्थों को बतलाता है। परन्तु शतपथ ब्राह्मण में उन अर्थों के अतिरिक्त छन्दरस या काव्यरस के विषय में बतलाया गया है[15] तथा औषधि, वनस्पति आदि की सृष्टि वाणी के रस से मानी गयी है।[16] शतपथ ब्राह्मण में जितने रस उतनी आत्माओं का उल्लेख करके रस और आत्मा का सम्बन्ध बतलाया गया है।[17] ब्राह्मणग्रन्थों के अतिरिक्त रससंज्ञा का प्रवेश दर्शन-शास्त्र के अन्तर्गत भी हुआ है। न्याय[18] तथा वैशेषिक[19] दर्शन-विद्याओं ने रस को गुण मान इसका निरूपण किया है। सांख्यशास्त्र की विषयपद्धति में पंचमहाभूतों की प्रकृति पर विचार करते हुए ज्ञातृनिरपेक्ष वस्तुमात्र के लिए 'रस' संज्ञा का

---

1. ऋ., 15/43/4 2. वही, 1/187/4 3. वही, 10/9/2 4. यजु., 2/32
5. अथर्व., 6/67/1 6. तै. उप., 2/7 7. बृ. उप., 1/3/19 8. वही, 4/3/25
9. गोपालोपनिषद्, 1/8 10. प्रश्नोपनिषद्, 4/8 11. कठोपनिषद्, 1/3/15, 2/1/3
12. प्रश्नोपनिषद्, 4/2, 48/49 13. मुण्डकोपनिषद्, 2/9
14. ऐतरेयब्राह्मण, 7/31, 5/19, 8/20 15. शतपथ ब्राह्मण, 1/2/2/2, 1/3/1/25, 2/3/1/10
16. [illegible], 4/6/9/16 17. वही, 7/2/3/4 18. न्या. सू., 1/4/14 19. वैशेषिकसूत्र. 1/1/6

प्रयोग किया गया है।

अब यदि काव्यशास्त्र के क्षेत्र में 'रस' पद के प्रयोग पर दृष्टिपात करें तो पाएँगे कि उपनिषदों में उपलब्ध 'रस' के विविध प्रयोग काव्यशास्त्र में भी ग्रहण किये गये हैं। तैत्तिरीय का रसरूप आनन्द ही वास्तविक आनन्द है, एवं काव्य के रस का सम्बन्ध भी आनन्द से है। उपनिषदों की भाँति काव्य में भी रस को सारभूत तत्व के रूप में माना गया है।[20] संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि 'रस' शब्द का उपनिषदों में प्रयोग ब्रह्म या आत्मतत्त्व के लिए किया गया है। ब्रह्मत्व या आत्मत्व का आनन्द के रूप में आस्वाद होता है यही स्थिति काव्य में भी है। काव्य के मुख्य तत्वों रस, वस्तु, अलंकार एवं ध्वनि में से रस ही ऐसा है जो आस्वाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जिस प्रकार प्रज्ञानघन ज्ञानरूप होता है जिसको अनुभव भी कहते हैं उसी प्रकार काव्यार्थ के आस्वादनात्मक अनुभव को ही रस कहते हैं। अतः काव्यजन्य रससंज्ञा पर दर्शन का प्रभाव प्रत्यक्ष एवं अक्षुण्ण है।

रस का स्वरूप -

काव्यशास्त्रियों ने रस-स्वरूप-निर्धारण के प्रसंग में दार्शनिक शब्दावली तथा सिद्धान्तों का बहुशः प्रयोग किया है। दार्शनिक परिपाटी का सहारा लेना इसलिए अनिवार्य हो जाता है, क्योंकि काव्यशास्त्रियों ने रस को अनुभूति-स्वरूप माना है। दार्शनिक भी अनुभूति को आत्मा से पृथक् स्वीकार नहीं करते। रसस्वरूप के प्रमुख दार्शनिक व्याख्याताओं में आचार्य भट्टनायक ने सांख्य तथा वेदान्त के आधार पर, आचार्य अभिनवगुप्त ने शैवाद्वैत के आधार पर तथा आचार्य विश्वनाथ एवं पण्डितराज जगन्नाथ ने अद्वैत वेदान्त के आधार पर रसस्वरूप का विवेचन किया है।

रस चमत्कार रूप है-

शैवाचार्य अभिनवगुप्त ने शैवदर्शन के पारिभाषिक शब्द 'चमत्कार' के आधार पर रस को चमत्कार-रूप मान उसे रसानुभूति में आवश्यक स्थान प्रदान किया है। उन्होंने रसास्वाद को "निर्विघ्न संविद्विश्रान्ति"[21] कहकर आत्मगत एवं आनन्दरूप घोषित किया। इनके अनुसार रस आस्वाद का विषय नहीं अपितु आस्वाद रूप है। आचार्य विश्वनाथ ने 'चमत्कार' को रस का सार मानते हुए उसे विस्मय का ही अपर पर्याय स्वीकार किया है।[22] किन्तु विश्वनाथ की चेतना से रस के चमत्कार रूप को प्रस्तुत करने में उनका शैवाद्वैत हटकर उसका स्थान वेदान्त ने ले

---

20. ना.शा. भरतमुनि, पृ. 272   21. अभिनवगुप्त, परात्रिंशिका, पृ. 49

22. साहित्यदर्पण, 3/3 वृत्ति

लिया है। अग्निपुराण के अनुसार वेदान्त में कहा गया है कि ब्रह्म अक्षर है, परम है, सनातन है, अज है, विभु है, चैतन्य है, ज्योति है, ईश्वर है। उसका सहज जब व्यक्त होता है, तो उसकी यह व्यक्ति चैतन्य, चमत्कार अथवा रस कहलाती है।[23]

रसास्वाद ब्रह्मास्वाद सहोदर है -

रसास्वाद की दार्शनिक व्याख्यायें आचार्य भट्टनायक, आचार्य अभिनवगुप्त, आचार्य विश्वनाथ तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने स्वग्रन्थों में की हैं। भट्टनायक रसास्वाद को आत्मानन्द का ही आस्वाद स्वीकार करते हुए इसे चिदानन्दमय तथा परब्रह्मास्वादसविध भी कहते हैं।[24] जो अद्वैत वेदान्तसम्मत ब्रह्म का स्वरूप लक्षण हैं। अभिनवगुप्त का कहना है कि रसास्वादन रूप प्रतीति में निर्विघ्नरूप से रत्यादि का भान होता है। उन्होंने रसास्वाद को ब्रह्मास्वाद के समान माना है।[25] आचार्य विश्वनाथ ने रसास्वाद को वेद्यान्तरस्पर्शशून्य, ब्रह्मास्वादसहोदर तथा स्वाकारवदभिन्न माना है।[26] ब्रह्मास्वाद से उनका तात्पर्य सवितर्क समाधि से है, जिसमें आनन्द, अस्मिता आदि आलम्बन रहते हैं। समाधि के रूपों की चर्चा योगदर्शन का विषय है।[27] काव्यशास्त्र के अन्तिम देदीप्यमान नक्षत्र पण्डितराज जगन्नाथ का रसनिरूपण पूर्णरूपेण वेदान्त की शब्दावली में है। उनके अनुसार चैतन्य के ऊपर से अज्ञान का आवरण हट जाना ही रस-चर्वणा है, अथवा अन्त:करण की आनन्दाकार वृत्ति को रसचर्वणा समझना चाहिए।[28] पण्डितराज के रस के अज्ञानावरण का आधार वेदान्त-दर्शन है। वेदान्त में अज्ञान की आवरण तथा विक्षेप दो शवितयों का वर्णन मिलता है।[29]

रस स्वप्रकाश रूप है -

आचार्य विश्वनाथ ने रस को स्वप्रकाशरूप कहा है। उनके अनुसार रस की निष्पत्ति, रत्यादि के ज्ञानस्वरूप ही है और ज्ञान की स्वप्रकाशता सिद्ध ही है। अत: रस भी स्वप्रकाश सिद्ध होता है।[30]

वेदान्तियों का 'ज्ञान' शब्द ब्रह्मवाची है। यह स्वप्रकाशात्मक है। 'स्वप्रकाश' का अर्थ है किसी अन्य के द्वारा ज्ञेयता की अपेक्षा न रखना। विश्वनाथ इसी ज्ञान के साथ रत्यादि के तादात्म्य की बात कहते हैं। स्वप्रकाशज्ञान के साथ रत्यादि का तादात्म्य होने पर वे भी ज्ञानरूप हो जाते हैं। अत: वे भी स्वप्रकाश हैं।[31] शैवाचार्य अभिनवगुप्त ने भी रस के लिए 'प्रकाश' शब्द का प्रयोग किया है।[31] शैव

23. अग्निपुराण, 339/1-2
24. अभि. भा., ना. शा., भा. 1, पृ. 277
25. का. प्र, अध्याय 4
26. साहित्यदर्पण, 3/2
27. योगदर्शन, समाधिपाद, 42, 43
28 रसगंगाधर, प्रथमआनन, पृ. 89
29. वेदान्तसार, सदानन्द, पृ. 4
30. साहित्यदर्पण, 3/28
31. अभि. भा., ना. शा., भा. 1. पृ. 282

प्रत्यभिज्ञावादी सत्ता को प्रकाशविमर्शमय मानते हैं। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी रसगंगाधर में रस की नित्यता तथा स्वप्रकाशता पर प्रकाश डाला है। उनके मत में रस के स्वरूप में रति आदि स्थायिभाव और चैतन्य ज्ञान दोनों ही आंशिक रूप से हैं, चैतन्यांश को लेकर रस नित्य तथा स्वप्रकाश है।[32] यहाँ रस की नित्यता वेदान्त में वर्णित ज्ञान की नित्यता तथा स्वप्रकाशता से साम्य रखती है।

रस अखण्ड रूप है –

विश्वनाथ द्वारा रस के लिए प्रयुक्त 'अखण्ड' शब्द वेदान्ती शब्दावली से आया प्रतीत होता है उनके अनुसार वास्तव में रस वेदान्त प्रसिद्ध ब्रह्म की तरह अखण्ड ही है।[33] वेदान्त में ब्रह्म को अखण्ड, सच्चिदानन्द आदि कहा गया है।[34] रसास्वाद को अखण्ड अनुभूति मानने का कारण वेदान्त की वाक्य बोध की अपनी उपपत्ति है। वेदान्त के महावाक्य ब्रह्म का बोध कराते हैं। श्रुति वाक्यों से उत्पन्न अखण्ड वाक्यों के द्वारा वेदान्तियों के अनुसार परब्रह्मात्मक अर्थ का ज्ञान होता है।

रस आनन्दरूप है –

अभिनवगुप्त के मतानुसार रसात्मक संवदेन आनन्दमय प्रतीति है तथा स्वसाक्षात्कारात्मक आस्वाद स्वरूप ज्ञान के आनन्दमय होने से सभी रस आनन्दप्रधान होते हैं।[35] उन्होंने आत्मस्वरूप के प्रकाश को ही आनन्दात्मक प्रत्यय कहा है। आनन्दानुभूति की प्रक्रिया का संक्षिप्त विवरण अभिनवभारती में भी उपलब्ध होता है। आनन्दानुभूति की चरमावस्था परमानन्द की पूर्णता बोध की अद्वैत स्थिति है जिसे प्रमाता की सम्यक् आत्मपरामर्श की अवस्था कहते हैं। अभिनवगुप्त का रस स्वरूप विवेचन[36] शैवदर्शन में आनन्दरूपता के भाव को प्रकट करता है।

आचार्य विश्वनाथ ने भी करुणादि सभी रसों की आनन्दरूपता को स्वीकार करते हुए उसे लौकिक सुख से भिन्न माना हैं।[37] पण्डितराज जगन्नाथ ने रस की आनन्दरूपता को वेदान्त के ब्रह्मानन्द के समकक्ष मान प्रमाणस्वरूप श्रुतिवाक्यों को प्रस्तुत किया है।[38] अतः यह कहा जा सकता है कि रस की आनन्दरूपता को सभी प्रमुख आलंकारिकों ने स्वीकार किया है। अन्तर केवल उनके आधारभूत दर्शन का है।

रस भोगीकरण रूप है –

रस को भोगीकरण रूप मानने वाले

32. रसगंगाधर (चन्द्रिका), प्र. आ. पृ. 89
33. साहित्यदर्पण, पृ. 64
34. वेदान्तसार, पृ. 1
35. अभि. भा., ना. शा., भा. 1. पृ. 282
36. अभिनवभारती, भाग 1 पृ. 280
37. साहित्यदर्पण 3/6-7
38. रसगंगाधर, चन्द्रिका प्रथम आनन, पृ. 91

सुप्रसिद्ध आचार्य भट्टनायक हैं। काव्यशास्त्र में भोजकत्व व्यापार इन्हीं की देन हैं। रसभोग के विषय में इनका कहना है[39] कि रस के भावित होने पर, उसका भोग, जो अनुभव, स्मरण और प्रतिपत्ति से विलक्षण है, वह द्रुति, विस्तार और विकास रूप है तथा रजस् और तमस् के वैचित्र्य से अनुविद्ध स्वात्म चैतन्य रूप लोकोत्तर आनन्द एवं परब्रह्म से आस्वाद का समीपवर्ती है।

अभिनवगुप्त ने भी भट्टनायक के भोग-व्यापार को स्वीकार करते हुए इसका अन्तर्भाव व्यंजना में ही कर रस-भोग को प्रतीतिरूप माना है।[40] भट्टनायक का भोग सांख्य और वेदान्तदर्शन से प्रभावित है तथा अभिनवगुप्त का शैवाद्वैत से। शैवदर्शन में भोग के सम्बन्ध में परतत्त्व को ही शास्त्रीय भाषा में 'महेश्वर' की उपाधि से विभूषित किया गया है। अभिनवगुप्त के पश्चात् आचार्य विश्वनाथ ने रस को स्पष्ट रूप से भोगीकरण रूप तो नहीं कहा किन्तु उन्होंने सत्वोद्रेक में रसानुभूति की चर्चा की है[41], जो स्पष्टत: सांख्य का प्रभाव है। पण्डितराज जगन्नाथ ने रस-भोग को ब्रह्मास्वाद का सविधवर्ती कहा है।[42]

रस अलौकिक है -

रस की अलौकिकता की सिद्धि कई प्रकार से की जा सकती है। कार्य तथा ज्ञाप्य से भिन्न होने के कारण रस अलौकिक है।[43] दर्शन तथा लोक में हेतु दो माने गए है, एक कारक दूसरे ज्ञापक। आचार्य विश्वनाथ ने भी इसे ही किंचिद् भिन्न प्रकार से कहा है।[44] सविकल्पक तथा निर्विकल्पक ज्ञान से भिन्न होने के कारण रस अलौकिक है।[45] दर्शन में भी प्रत्यक्ष ज्ञान के सविकल्पक एवं निर्विकल्पक दो भेद माने गए हैं तथा परोक्ष एवं अपरोक्ष से भिन्न होने के कारण रस अलौकिक है, अर्थात् रस का ज्ञान परोक्ष नहीं क्योंकि उसका साक्षात्कार होता है और अपरोक्ष भी नही क्योंकि काव्यादि के शब्दों से वह उत्पन्न होता है।[46] उपनिषदों में भी ब्रह्म के निर्गुण निर्विशेष रूप की अलौकिकता पर प्रकाश डाला गया है।[47] अत: संक्षेप में कहा जा सकता है कि रस के स्वरूप विवेचन में दार्शनिक परिपाटी का सहारा लिया गया है।

भक्तिरस -

वैष्णव रस-साधना विषयक शास्त्रीय ग्रन्थों में भक्ति-रस का बडा ही सूक्ष्म एवं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है। अन्य साहित्यशास्त्रियों ने जहाँ देव-विषयक रति अर्थात् मधुर भक्ति-रस को भाव की ही संज्ञा

39. ध्वन्यालोकलोचन, पृ. 193 40. लोचन पृ. 200, अभिनवभारती, भाग 1 पृ. 277
41. साहित्यदर्पण 3/3. 42. रसगंगाधर (चन्द्रिका) पृ., 100 43. काव्यप्रकाशा, चतुर्थ उल्लास
44. साहित्यदर्पण, 3/21-22. 45. वेदान्तपरिभाषा, प्रथम परिच्छेद 46. साहित्यदर्पण, 3/25
47. श्वेताश्वतरोपनिषद्, 3,19.

देना उपयुक्त माना वहाँ वैष्णव आचार्यों ने विशेषकर बंगाल के गौडीय वैष्णवों ने मधुर भक्तिरस को 'भाव' की हीन-कोटी से ऊपर उठाकर रसदशा में ही नहीं पहुँचाया अपितु सभी लौकिक रसों में श्रेष्ठ सिद्ध करके उसे सर्वप्रथम रस के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। उपनिषदादि में भक्ति सम्बन्धी भाव बाहुल्येन उपलब्ध होते हैं। ज्ञानप्रधान उपनिषदों में जगह-जगह पर भक्तिभावना की महत्ता के संकेत मिलते हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् में भक्ति के मुख्य तत्त्व प्रवृत्तिवाद की स्थापना करते हुए स्पष्ट कहा गया है कि जिस पुरुष को देवता में तथा देव के समान गुरु में भी जिसकी भक्ति होती है, उसी महात्मा को ये कहे गए अर्थ स्वत: प्रकाशित होते हैं।[48]

छान्दोग्योपनिषद् में प्रभुभक्ति को सर्वोत्कृष्ट रस कहा गया है।[49] बृहदारण्यक उपनिषद्[50] में भी भक्तिरस के मन्त्र उपलब्ध होते हैं। भक्ति-साधना में भगवान् के प्रति भक्त की तन्मयता आत्मनिवेदनासक्ति चरमोत्कर्ष को प्राप्त हो जाती है। गीता[51] में स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा कि अव्यक्त में चित्त की एकाग्रता करने वाले को बहुत कष्ट उठाना पड़ता है। जो प्रेमी भक्तजन भगवान् में अपने मन को एकाग्र कर निरन्तर अतिशय श्रद्धा से सगुण रूप परमेश्वर का भजन करते हैं, वे योगियों में अत्युत्तम योगी माने जाते हैं। ऐसे प्रेमी भक्तों का भगवान् शीघ्र ही मृत्यु रूप संसार-सागर से उद्धार कर देते हैं।

साहित्यशास्त्र में भक्ति रस को अत्युतम स्थान प्रदान करने का श्रेय आचार्य रूपगोस्वामी को है। इन्होंने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ भक्तिरसामृतसिन्धु में भक्ति-रस को उत्तम माना है।[52] इन्होंने भक्तिरसामृतसिन्धु को कर्ममार्गी पूर्वमीमांसक और ज्ञानमार्गी उत्तरमीमांसक दोनों मीमांसक रूप बड़वानल की प्रखर जिह्वा को भी कुण्ठित करने वाला बताया है।[53] इन्होंने मधुर रस का शास्त्रीय विवेचन किया तथा इसके आधारभूत तत्त्व 'प्रेम' की व्याख्या करके बतलाया कि जिस भाव द्वारा हमारी आत्मा अन्तरात्मा स्निग्ध, कोमल एवं निर्मल हो तथा जो 'ममत्वातिशयांकित हो, उसी के प्रगाढ़ रूप को सुधीजन प्रेम की संज्ञा देते हैं।[54]

दार्शनिक दृष्टि से प्रेम और आनन्द का मूलस्रोत आत्म-दर्शन है। एक ही परमतत्त्व का समष्टि-रूप परमात्मा है तथा व्यष्टिरूप आत्मा है। सत्, चित् और आनन्द तीनों की

48. वही, 6/23. 49. छान्दोग्योपनिषद्, 1/1/3. 50. बृहदारण्यक उपनिषद्, 2/4/5
51. गीता, 12/5 52. भक्तिरसामृसिन्धु, प्रथम सामान्य भक्तिलहरी, 11
53. वही, 5 54. वही, पूर्वविभाग, चतुर्थ प्रेमभक्ति लहरी का, 1 पृ. 106

समष्टि ही ब्रह्म है। अत: आत्मा में ही ब्रह्म के तीनों रूप विद्यमान हैं। इसी आधार पर आत्मसाक्षात्कार को ब्रह्मसाक्षात्कार और आत्मानन्द को ब्रह्मानन्द माना गया है। ब्रह्म के सत्, चित् और आनन्द ये तीनों ही रूप अनुभवगम्य हैं, किन्तु इनमें उसका आनन्दस्वरूप ही सहज बोधगम्य है।[55] निर्गुण, निराकार ब्रह्म के सगुण और साकार रूप की अवतारणा का यही रहस्य है। आत्मा भी इसी आनन्द-स्वरूप के साक्षात्कार के लिए निर्गुण स्वरूप को त्याग कर सगुण रूप धारण करता है।[56] विशुद्ध प्रेमानुभूति से मनुष्य प्रकृति-बन्धनों से विमुक्त होता है तथा देह और चित्त से ऊपर उठकर अपनी आत्मा के आनन्दमय स्वरूप से एकाकार हो जाता है।[57]

आचार्य रूपगोस्वामी ने मधुरोपासनाजन्य परमानन्द के समक्ष समाधिजन्य ब्रह्मानन्द को परमाणुतुल्य भी स्वीकार नहीं किया।[58] उज्ज्वलनीलमणि में इन्होंने मधुर-रस को भक्तिरस-राट् की संज्ञा देकर परमोत्कर्ष पर पहुँचा दिया है।[59] इनके अनुसार भगवान् और उनके वल्लभरूप आलम्बन विभाव से, भगवान् के गुण, चेष्टा, प्रसाधन, तुलसी, चन्दन आदि उद्दीपन विभाव से, नृत्य, गीत, अश्रुपात, नेत्र-निमीलन आदि अनुभाव से, रोमांच आदि सात्विक भाव से, निर्वेद आदि व्यभिचारी से भगवदाकारात्मक प्रेमरूप स्थायीभाव से साक्षात् परमानन्द रूप से भक्तिरस की अभिव्यक्ति होती है।[60] 'रसो वै स:' इस श्रुति से प्रतिपादित रस का साक्षात् अनुभव इसी भक्ति-रस में होता है। इन्होंने भक्तिरस पर प्रकाश डालते हुए भक्ति के तीन प्रमुख भेद - साधनारूपा, भावरूपा, और प्रेमरूपा किए हैं।[61] तदनन्तर साधनारूपा भक्ति के वैधी और रागानुगा दो भेद किए हैं।[62] साहित्यशास्त्रीय भक्ति-रस सम्बन्धी ग्रन्थों में रागात्मिका भक्ति उत्तम कोटि की मानी गई है।[63] भक्तिरस के समक्ष चारों पुरुषार्थ तृण के समान हो जाते हैं।[64]

ज्ञानमार्ग के अनुयायी वेदान्ती ब्रह्मभाव की प्राप्ति को जीवन का लक्ष्य मानते हैं और भक्तिमार्ग के अनुयायी कृष्ण को अपने जीवन का ध्येय मानते हैं। कृष्ण को यदि ब्रह्मरूप ही माना जाए तो ज्ञानमार्गी और भक्तिमार्गी दोनों का अन्तिम लक्ष्य एक ही होता है, उन्होंने कृष्ण को सूर्य तुल्य तथा ब्रह्म को उसकी

55. नारदभक्तिसूत्र, 58. 56. कठोपनिषद् 2/2/2. 57. नारदभक्तिसूत्र, 46, 47, 50, 60, 62
58. भक्तिरसामृतसिन्धु, पूर्वविभाग, प्रथमा सामान्य भक्तिलहरी का 19 पृ. 19
59. उज्ज्वलनीलमणि 1/2 पृ. 4 60. भक्तिरसामृतसिन्धु-पृ. 13, उ. नी. 41
61. भक्तिरसामृतसिन्धु, पूर्वविभाग द्वि. साधनभक्ति, पृ. 22 62. वही, 1/2/3
63. वही, प्रथम सामान्य भक्तिलहरी का, 11 पृ.10. 64. वहीं, का, 17

किरणों के सदृश माना है।[65]

(चित्त की) पूर्ति, विकास, विस्तार, विक्षेप तथा विक्षोभ रूप पाँच प्रकार की अवस्थाओं के कारण सभी भक्ति-रसों का आस्वादन पाँच प्रकार का माना जाता है।[66] इनमें शान्त में पूर्ति, प्रीति आदि पाँच में (अर्थात् प्रीति, प्रेयान्, वात्सल्य, मधुर तथा हास्य) विकास, वीर तथा अद्‌भुत में विस्तार करुण तथा रौद्र में विक्षेप तथा भयानक एवं वीभत्स में क्षोभ (रूप चित्तावस्था) विद्वानों ने मानी है।[67]

संक्षेप में यही भक्तिरस पर दार्शनिक प्रभाव है।

–शोध-छात्रा, (संस्कृत विभग), वनस्थली विद्यापीठ, राजस्थान ।

---

65. भक्तिरसा मृतसिन्धु, पूर्वविभाग, द्वितीय साधन भक्तिलहरी, पृ. 84.
66. भक्तिरसा मृतसिन्धु, दक्षिणविभाग पंचम स्थायीभावलहरी का, 102
67. वही, 103

संस्थान समाचार

दान-

डॉ. एस. के. ऐरी
114, रमर स्ट्रीट, मार्टन टैननसी,
यू.एस.ए 1,36,710/-

श्री भागमल महाजन चैरिटेबल ट्रस्ट,
महाजन कम्पोंड, ऐल. वी.एस. मार्ग,
मुम्बई। 3000/-

श्री ओम प्रकाश सूद,
बहादुरपुर गेट, होशियारपुर। 500/-

श्री अशोक खेर एण्ड् कम्पनी,
चार्टर अकउंटैंट, वी-14
डॉ. मुकर्जी नगर, दिल्ली। 2100/-

श्री हरिवंश चंचल शर्मा चैरिटेबल,
ट्रस्ट (रजि.),
1927, 22-बी, चण्ड़ीगढ।। 5000/-

श्री सुदर्शन पराशर,
54-बी, रेलवे मण्डी होशियारपुर। 1000/-

हवन-यज्ञ- विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान के कार्य-दिवस का शुभारम्भ प्रतिसप्ताह के प्रथम दिन सत्संग-मन्दिर में हवन-यज्ञ से हुआ।

सितम्बर, 2015 के द्वितीय रविवार को संस्थान के सत्संग-मन्दिर में परम पूज्य स्वामी सत्यानन्द जी महाराज के द्वारा चलाई गई परम्परानुसार उनके भक्तों के द्वारा अमृतवाणी का संकीर्तन भी नियमित रूप से किया गया।

अभिनन्दन :- डी. ए. वी. कालेज प्रबन्धकर्त्री समिति, नई दिल्ली एवं आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा, दिल्ली द्वारा हिमाचल प्रदेश के महामहिम राज्यपाल, आचार्य देवव्रत जी का 5-9-2015 को पीटर हाफ सभागार, शिमला में, आर्यरत्न श्री पूनम सूरी, प्रधान आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा एवं डी. ए. वी. कालेज प्रबन्धकर्त्री समिति, नई दिल्ली द्वारा अभिनन्दन किया गया।

छात्रवृत्ति :- वी. वी. आर. आई. में पं० दुर्गादास एवं श्रीमती देवकी देवी एण्डोमैन्ट फण्ड में 1,36,710 रू० की अतिरिक्त सहायता प्राप्त- संस्थान के आद्य संचालक स्व. पद्मभूषण आचार्य डा० विश्वबन्धु जी के निकटस्थ मित्र एवं संस्थान कार्यकारिणी के भूतपूर्व सदस्य स्व० पं० दुर्गादास जी के सुपुत्र डा० एस. के. ऐरी द्वारा 1,36,710 रू० की राशि उपर्युक्त फण्ड में भेजी गई। डॉ० ऐरी जी ने जुलाई मास में भी इसी फण्ड में 1, 32, 956 रू० की राशि भेजी थी। भविष्य में भी समय समय पर वे भेजते रहेंगे, ऐसा भी उन्होंने अपना विचार प्रकट किया है। यह उनका एक उत्तम संकल्प है। इस प्रकार के संकल्प की जितनी सराहना की जाए उतनी ही कम है। अत: इस फण्ड की स्थापना के लिए संस्थान डा. ऐरी जी तथा उनके परिवार का हार्दिक धन्यवाद करता है और उनकी समृद्धि की प्रभु से कामना करता है। इस संपूर्ण राशि के ब्याज से संस्थान कम्प्यूटर विभाग के छात्रों तथा पी.एच.डी. के योग्य छात्रों को छात्रवृत्ति देगा।

वृक्षारोपण :- 23 अगस्त, 2015 को साधु आश्रम, होशियारपुर में रोटरी होशियारपुर नार्थ एवं वी.वी.आर.आई. की ओर से संमिलित रूप से संस्थान के नवीन अतिथिगृह के आसपास आम तथा अन्य पौधों का आरोपण किया गया। इस अवसर पर संस्थान के संचालक, प्रो. इन्द्रदत्त उनियाल, प्रो. त्रिलोचन सिंह बिन्द्रा, श्री श्रीकान्त तथा अन्य कर्मिष्ठ एवं रोटरी नार्थ की ओर से प्रधान, पी.पी. सिंह

सोहल, पूर्व प्रधान, श्री बलबिन्दर सैनी, श्री अतुल शर्मा, श्री गुरबिन्दर बंसल, श्री भारत गंडोत्तरा, श्री भारतभूषण, श्री विवेक वालिया, श्रीमती अनु गंडोत्तरा आदि पर्यावरणप्रेमी उपस्थित थे।

स्वामी सुमेधानन्द जी को श्रद्धांजलि :- संन्यास जीवन में, शिक्षा के क्षेत्र में तथा दु:खियों की सेवा में अपना जीवन बिताते हुए आध्यात्मिक पद्धति से परमपिता परमात्मा की उपासना करने वाले स्वामी सुमेधानन्द जी इस संसार में नहीं रहे। आप एक सच्चे आर्यसमाजी, समाज-सुधारक तथा ईश्वरोपासक थे। आपके जाने से न केवल आर्यसमाज को ही अपितु सभी को जो हानि हुई है उसकी पूर्ति संभव नहीं। ऐसे विद्याप्रेमी, परोपकारी, सदाचारी, कोमल हृदय, दृढ़विश्वासी संन्यासी को श्रद्धांजलि समर्पित करते हुए हम उनके बताए मार्ग पर चलें, विद्याप्रेमी कर्त्तव्यपारायण बनें और सारस्वत सेवा में निरत रहने के साथ-साथ अन्यों को भी इसके लिए प्रेरित करने का संकल्प लें।

शोक समाचार :- संस्थान के भूतपूर्व कर्मिष्ठ श्री ओम प्रकाश तथा श्री किशोर चन्द जी की माता श्रीमती राम देई जी का 98 वर्ष की आयु में दि. 27-8-15 को होशियारपुर में देहान्त हो गया। आप मिलनसार और धार्मिक विचारों की महिला थीं। संस्थान के सभी कर्मिष्ठों की ओर से दिवंगत आत्मा को श्रद्धांजलि दी गई तथा दो मिन्ट को मौन रखा गया।

संस्थान के ही आजीवन सदस्य श्री देवेन्द्र कालरा जी का 26-8-15 को 58 वर्ष की आयु में होशियारपुर में अचानक देहान्त हो गया। आप मिलनसार और दानी व्यक्ति थे। आप कई संस्थाओं के सदस्य थे। आप गरीबों की सहायता करने वाले थे।

इस शोक के अवसर पर शोकसंतप्त परिवारों के प्रति संस्थान की ओर से समवेदना प्रकट की जाती है परमपिता परमात्मा से दिवगत आत्माओं को शान्ति प्रदान करने तथा उनके शोकाकुल परिवारों को इस दु:ख को सहने की शक्ति प्रदान करने की प्रार्थना की जाती है।

निवेदन

वी.वी. आर. आई, साधु आश्रम, होशियारपुर में गत वर्षों की भाँति इस बार भी दिनांक 30-9-2015 को संस्थान के आद्य संचालक पद्मभूषण स्व. आचार्य (डॉ.) विश्वबन्धु जी की जयन्ती के अवसर पर हवन यज्ञ किया जायेगा, जिसमें नगर के प्रतिष्ठित व्यक्ति श्री कुलदीप राय गुप्ता, संचालक बाल विकास परिषद, होशियारपुर मुख्यरूप से वक्ता होंगे। आपसे निवेदन है कि आप इस कार्यक्रम में सम्मिलित होकर अनुगृहीत करेगें।

यस्तु क्रोधं समुत्पन्नं प्रज्ञया प्रतिबाधते।
तेजस्विनं तं विद्वांसो मन्यन्ते तत्त्वदर्शिनः ।।

महा. आ. प. 30. 17

इस संसार में लोग उसी को तेजस्वी मानते हैं जो किसी कारण से उत्पन्न क्रोध की अपनी सोच द्वारा समाप्त कर देता है अर्थात् क्रोध को दबा देता है। इसलिए क्रोध को शान्त रखना ही सबसे बड़ी तपस्या है।

With best compliments from :

Dr. Gopal Krishan Sharma

167, Mockingbird Lane (Scenic Hills)
Martin, Tennessee,
U. S. A.- 382 37.

वृत्ततस्त्वविहितानि कुलान्यल्पधनान्यपि।
कुलसंख्यां च गच्छन्ति कर्षन्ति च महायशः ॥

विदुरनीति, 4. 29

धन की कमी होने पर भी सदाचार से युक्त कुल ऊँचे कुलों में गिने जाते हैं और संसार में यश के भागी होते हैं अर्थात् अच्छे कुल का मनुष्य निर्धन होने पर भी धनिकों की श्रेणी में आ जाता है और यशस्वी माना जाता है।

अपने पूज्य पति

स्व. डा. हरिवंश शर्मा जी

के जन्मदिन पर

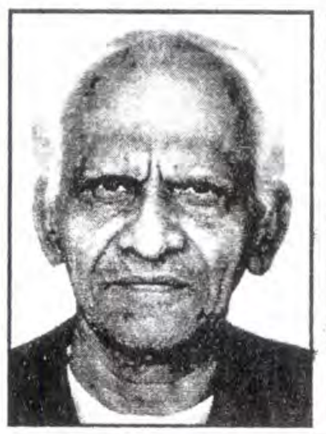

सादर समर्पित

प्रयोजिका :

श्रीमती चञ्चल कुमारी

डॉ. हरिवंश चञ्चल शर्मा धर्मार्थन्यास

1927, सैक्टर 22-बी, चण्डीगढ़

संतोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत्।
संतोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः॥

मनुस्मृति 4.12

जो मनुष्य संतोषी है, वही सुखी है। इसलिए सुख चाहने वाले को संतोषी होना चाहिए। क्योंकि संतोष ही सुख का मूलकारण है और तृष्णा (चाहत) ही दुःख का मूल है। अतः प्राणी को सदा संतोषवृत्ति वाला होना चाहिए।

IN SWEET MEMORY OF
RESPECTED MOTHER

SMT. SAVITRI DEVI MARWAHA

(तृतीय पुण्यतिथि)

BY

SH. GANGA BISHAN MARWAHA (SON)
SH. SUBHASH CHANDER MARWAHA (SON)
SMT. SANTOSH KUMARI MARWAHA (DAUGHTER-IN-LAW)

ईश नगर, B-2/59, होशियारपुर।

धन्यास्ते नियतं स्वं ये कर्म कुर्वन्ति सांस्कृतम्।
धन्यास्तेऽपि च ये स्वीयान् संस्मरन्ति यथा तथा॥

अभिनवसंस्कृतसुभाषित सप्तशती, 253

आज के समय में ही नहीं अपितु सर्वदा वे व्यक्ति धन्य हैं, जो निश्चित रूप से संस्कृत एवं संस्कृति को बढ़ावा देने वाले कार्य करते रहते हैं। साथ ही वे व्यक्ति भी धन्य हैं जो किसी न किसी प्रकार अपने बन्धु-बान्धव जनों को स्मरण करते रहते हैं।

अपनी पूज्या माता

स्व. श्रीमती कृष्णा देवी जी पराशर

[निधन: 31 अक्टूबर]

की

पावनस्मृति

में समर्पित

श्री सुदर्शन पराशर 'अजातशत्रु' (पुत्र),

सेवानिवृत्त डिप्टी रजिस्ट्रार, पंजाब विश्वविद्यालय,

श्रीमती अविनाश पराशर (पुत्रवधु), सर्वश्री प्रदीप, राजीव, विशाल (पौत्र)

रेलवे मण्डी, होशियारपुर

प्रयोजक :

डॉ. त्रिलोचनसिंह बिन्द्रा

(संस्थान) सत्संग मन्दिर

वी. वी. आर. आई. सोसाईटी, होश्यारपुर (पंजाब) की ओर से प्रकाशक व मुद्रक प्रो. इन्द्रदत्त उनियाल द्वारा वी. वी. आर. इन्स्टीच्यूट प्रैस, पो. आ. साधु-आश्रम, होश्यारपुर से छपवा कर, वी. वी. आर. इन्स्टीच्यूट, पो. आ. साधु-आश्रम, होश्यारपुर-१४६ ०२१ (पंजाब) से २८-९-२०१५ को प्रकाशित।